* ओइम् तत्सत् *

सहज-मार्ग

SAHAJ MARG

वर्ष २ अंक १

Year 2 Number 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०
भारतवर्ष

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur (U. P.) India

सम्पादक मंडल
काशीराम अग्रवाल, (आसाम)
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३] [एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लीकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहांपुर
उ० प्र० (इन्डिया)

विषय सूची:-

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१. प्रार्थना		१
२. सम्पादकीय		२
३. भजन	सूरदास	६
४. अखलाक	समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी	
५. वास्तविक भक्ति	श्री रामचन्द्र जी शाहजहाँपुर	
६. सहज-मार्ग साधना-पद्धति की कुछ विशेषताएँ	श्री श्रीपति मर्नाड, गुलबर्गा	१
६. तीन प्रश्न (कहानी)	कुमारी करतूरी चतुर्वेदी	१
८. अभ्यासी के अनुभव	एक अभ्यासी	२
९. अनन्त अपना (कविता)	श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव	२
१०. अध्यात्म	श्री रामदास चतुर्वेदी, एडवोकेट	२
११. प्रतीक्षा (कविता	श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एम. ए.	२८
१२. भावना गम्य गायत्री	श्री बच्चूलाल 'ज्ञान' एम. ए.	३०
१३. अपनी झलक (कविता	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'मन्या'	३२
१४. प्रार्थना		३२
15. Easist way to God-Realization	Shri Ram Chandra ji Shahjahanpur	3
16. Spiritualism and the modern world	Shri Suresh Chandra Shrivastava	3
17. Quest for Reality	Shri Ishwar Sahai	4
18. Science of the Ultimate or the essence of Indian philosophy	S. P. Shrivastava	5
19. Song of the free	Swami Vivekanand	6
20. Dharma and Yoga	A. Balasubramaniam	6

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो !)

वर्ष २ चैत्र सम्वत् २०१५, (मार्च १९५८) अङ्क १

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य—जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति का मेरु दण्ड उसका दर्शन है; और भारतीय दर्शन का प्राण उसका साधना पक्ष है। किन्तु भारतीय संस्कृति की ह्रास-कालीन शताब्दियों में दर्शन के इस पक्ष पर उपयुक्त बल प्रायः समाप्त ही हो गया। परिणामतः आज अन्य विषयों के विद्यार्थियों की तो बात ही क्या, दर्शन के विद्यार्थीको भी ऊँचीसेऊँची डिग्री प्राप्तकर लेनेके बाद भी इसका पता नहीं चलता कि आखिर वह कौन सा प्रकाश अथवा ज्ञान था, जिसे देख कर तपस्वी राजकुमार सिद्धार्थ 'बुद्ध' बन गये थे, जिसके विषय में समस्त भारतीय दर्शन सम्मिलित रूप से असंदिग्ध स्वर में घोषणा करता है कि उसकी प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। विद्यार्थियों के मन में उस चरम लक्ष्य के विषय में जिज्ञासा न उठती हो – ऐसी बात नहीं। किन्तु उनकी यह नैसर्गिक जिज्ञासा अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में प्रोत्साहन न पा कर समाप्त हो जाती है। पाश्चात्य दर्शन की बौद्धिक चिन्तन-प्रधान पद्धति के आधिपत्य से प्रभावित होकर हमारे देश के विद्वानों और प्राध्यापकों ने भारतीय दर्शन की विशिष्ट पद्धति–साक्षात्कार को विस्मृत ही नहीं कर दिया, अपितु उसके प्रति आस्था भी खो दी है। परिणामतः दर्शन शुष्क बौद्धिक व्यायाम का विषय बन कर रह गया है, जिसे भारतीय जन-मन अचेतन रूप से अस्वीकार करता है। सम्भवतः इसी कारण हमारे विश्व विद्यालयों में और जन साधारण में भी दर्शन के प्रति उदासीनता दिखाई पड़ती है।

किन्तु कई शताब्दियों की नींद के बाद मानवता के इतिहास के इस एटम एवं स्पुटनिक-युग में भारतीयसंस्कृति के नव-जागरण के युग का भी प्रारम्भ हो चुका है। भौतिक विज्ञानों की उन्नति मानव को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति प्रदान करती जा रही है। इस शक्ति के स्वामित्व के अनुकूल चरित्र और चेतना का विकास आज के मानव की अनिवार्य आवश्यकता है। भारत के प्रधान मन्त्री ने इस वर्ष मदरास में इन्डियन साइंस काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए यह प्रश्न किया था "क्या साइंस काँग्रेस में कोई ऐसा विभाग (Section) नहीं हो सकता जो मानव में ऋषियों के चारित्रिक

गुण [Sagely quality] विकसित करने के उपायों के विषय में अनुसंधान [research] करे ?" कोलम्बो में श्री रामकृष्ण मिशन और श्रीविवेकानन्द सोसाइटी के समारोह के अवसरपर भारत के उपराष्ट्रपति नेभी कहाथा कि "यह समय मानव को परिवर्तित करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।" आज की मानवता के समक्ष उपस्थित समस्या का समाधान भारत किसी न किसी रूप में प्रस्तुत कर ही रहा है। किन्तु इस दिशा में सुस्पष्ट क्रान्तिकारी योग भारतवर्ष अपनी साँस्कृतिक विशिष्टता के सुदृढ़ धरातल पर खड़े होकर ही प्रदान कर सकता है। भारत के साँस्कृतिक नव जागरण के इस काल में देश के विभिन्न भागों से स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महर्षि रमण, प्रोफ़ेसर रानाडे आदि मनीषियों को हम इस साँस्कृतिक पुनर्जागरण की उपयुक्त दिशा निर्धारित करते हुए देखते हैं। गाँधी और विनोबा जिस शाश्वत मानव धर्म की डोर को पकड़ कर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का क्रान्तिकारी हल देने में सफल हुए हैं, उसका एक सुव्यस्थित विद्या के रूप में विकास भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के इतिहास में शताब्दियों पूर्व किया गया था। वह विद्या चेतना के एक उच्च स्तर का विषय होने के कारण विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित थी। जन साधारण चेतना के उस उच्च स्तर तक उठने में असमर्थ होने के कारण उस विद्या के प्रतिपाद्य चिरन्तन सत्य का स्वरूप धीरे धीरे विकृत कर डालते थे। अतः कोई योग्य शिक्षक उस की नई व्याख्या युग विशेष की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये प्रस्तुत करता था। अतः उस शाश्वत धर्म और चिरन्तन सत्य सम्बन्धी सुव्यवस्थित विद्या की अजस्र धारा वेदों से ले कर गीता और बौद्ध काल से होती हुई शंकर, रामानुज और चैतन्य के समय तक प्रवाहित दिखाई देती है। आज फिर हम कई शताब्दियों की सिकता में विलीन रहनेवाली उस पुण्यसलिलापयस्विनी की धारा को प्रस्फुटित होती देख रहे हैं। यह भारत और समस्त मानवता के उज्जवल भविष्य का परिचायक माँगलिक चिन्ह।

निस्सन्देह आज के वैज्ञानिक युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल उपर्युक्त विद्या की नई व्याख्या की आवश्यकता है। उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि आज के युग में प्रयोग होने वाले प्रत्ययों से अलग प्रतीत होती है। अतः उन शब्दों और प्रत्ययों को आधुनिक शब्दों और प्रत्ययों में रखने की आवश्यकता है। दूसरी

बात यहकि उस व्यावहारिक विद्या की पद्धतियोंऔर विधियों [Methods] को भी आधुनिक परिस्थितियों के साथ समायोजित करने की आवश्यकता है। इस दिशा में सबसे मुख्य बात यह है कि वह अब कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक अथवा जन साधारण के जीवन के किसी आंशिक पक्ष या विशेष क्षण तक सीमित होकर नहीं रह सकती। तीसरी बात यह है कि वह विद्या आज के युग में एक रहस्य के रूप में अपनायी नहीं जा सकती।

हमारा श्री रामचन्द्र मिशन भारतीय सांस्कृतिक नव जागरण के उपर्युक्त उद्देशों की पूर्ति करने में अपने विशिष्ट ढङ्ग से संलग्न है। हम अध्यात्म एवं योग को एक सुव्यवस्थित विद्या के रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील हैं। मिशन के संस्थापक-अध्यक्ष शाहजहाँपुर-निवासी श्रद्धेय श्री रामचन्द्र जी आयु जाति, लिङ्ग, धर्म राष्ट्र आदि के समस्त भेद भाव की उपेक्षा कर के किसी भी संवेदन शील [Sensitive] सच्चे जिज्ञासु को यह विद्या प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। बौद्धिक परिष्कार से सम्पन्न बड़े से बड़े विद्वानों और वैज्ञानिकों को उनका खुला निमन्त्रण है कि बिना किसी शर्त और नियन्त्रण को स्वीकार किये पूर्णतः खुले मस्तिष्क से परीक्षण और प्रयोग की दृष्टि से इस विद्या को अपना कर इस का सारतत्व ग्रहण करने का प्रयास करें। इस विद्या की उपादेयता का प्रमाण अभ्यासी के जीवन और चरित्र पर इस का स्वास्थ्यपूर्ण व्यावहारिक प्रभाव है। आधुनिक गृहस्थ जीवन की जटिलताओं को ध्यान में रखकर प्राचीन साधना-पद्धति को इतना सरल कर दिया गया है, कि उसके अभ्यास के लिए किसी साधारण कर्तव्य की उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्राचीन साधना में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि, उदाहरणार्थ "मोक्ष", "ईश्वर-साक्षात्कार" आदि की आधुनिक प्रत्ययों का प्रयोग करके व्याख्या करने का प्रयास भी हम कर रहे हैं, किन्तु इस दिशा में बौद्धिक-परिष्कार-सम्पन्न विद्वानों और वैज्ञानिकों से ही पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

हम इस विद्या को रहस्यात्मक बनाये रखने के पक्ष में नहीं हैं। इस में सन्देह नहीं कि चेतना के उच्चतर स्तर पर प्राप्त होने वाला अनुभव निम्नतर चेतना के प्रत्ययों में अनुवाद करके समझाया नहीं जा सकता, और इसीलिए अनेक परिष्कृत मस्तिष्क के विद्वान यह तर्क

प्रस्तुत करके साधना-मार्ग को सर्व साधारण के लिए सुलभ करने का विरोध करते हैं, कि "जो जानता है वह बोलता नहीं, जो बोलता है वह जानता नहीं"। निस्संदेह किसी समय यह सिद्धाँत ठीक रहा होगा, जब यह निधि विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित थी। किन्तु आज की परिवर्तित परिस्थितियों में प्रकृति स्वयं ही मानव को एक उच्च स्तर की चेतना प्रदान करने के लिए आतुर है। साधना का अन्तिम लक्ष्य फिर भी कुछ रहस्यपूर्ण रहेगा, और उसे जन-साधारण के लिए सुलभ करने में कठिनाई रहेगी। किन्तु यह कठिनाई और रहस्य ठीक ऐसा ही है जैसे कि परमाणु-शक्ति का सिद्धाँत हाई स्कूल तथा इन्टर की कक्षाओं के भौतिक शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए रहस्यपूर्ण है। उन्हें उपयुक्त ढङ्ग से यह सिद्धाँत समझा देना कठिन है। किन्तु प्रत्येक हाईस्कूल के विद्यार्थी में अभ्यास और लगन की शर्तों के साथ परमाणु-शक्ति के सिद्धाँत को पूर्णतः ग्रहण करने की क्षमता विद्यमान है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

पिछले दिसम्बर-जनवरी में मिशन के अध्यक्ष श्रद्धेय श्री 'बाबूजी' ने दक्षिण भारत का भ्रमण किया। वे हैदराबाद, गुलबर्गा, तिरुपति, मदरास, सेलम, एवं चित्रनापली गये। तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश) में श्री वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर डा० के० सी० वरदाचारी को प्रशिक्षण की आज्ञा प्रदान कर के वहाँ शिक्षण केन्द्र की स्थापना की। तिरुपति में श्री बाल सुब्रह्मण्यम और अन्य सत्संगियों के सद्प्रयास के परिणाम स्वरूप मिशन के आश्रम की स्थापना के लिये कपिलधारा के पास भूमि मिल गई है। मद्रास में श्री एन० कुमारस्वामी की धर्म पत्नी को भी प्रशिक्षण की आज्ञा प्राप्त हुई। मद्रास में श्री कुमारस्वामी और श्री सी० एन० टी० मुदालियर के संचालन में शिक्षण केन्द्र पहले से ही संस्थापित हैं। गुलबर्गा में मिशन की ब्राँच का वार्षिकोत्सव मनाया गया, जिस में कई लेख पढ़े गये, और भाषण हुये। अध्यक्ष द्वारा दिया गया सन्देश इसी अङ्क के अँग्रेजी भाग में प्रकाशित है।

२५ जनवरी (बसंत पंचमी) को शाहजहाँपुर में मिशन का वार्षिकोत्सव एवं मिशन के आदि गुरू समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी

महाराज, फ़तेहगढ़ का जन्मोत्सव मनाया गया। इस में आसाम, कलकत्ता, दिल्ली और उत्तर-प्रदेश के विभिन्न भागों से आये सत्संगी सम्मिलित हुए। इस अवसर पर गोला शुगर मिल के प्रोप्राइटर श्री रामेश्वर प्रसाद नेवटिया से श्री "बाबू जी" की अँग्रेजी की पुस्तक 'Reality at Dawn' के तमिल अनुवाद के प्रकाशनार्थ ७५०) की राशि प्राप्त हुई; एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। श्री बाबू जी की दूसरी अप्रकाशित पुस्तक 'अनन्त की ओर' के प्रकाशनार्थ कई सत्संगियों ने अनुदान दिये हैं। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। यह दोनों पुस्तकें प्रेस में हैं।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

प्रस्तुत अङ्क के साथ 'सहज मार्ग' पत्रिका सहृदय पाठकों के आशीर्वाद और शुभ कामनाओं के साथ अपने प्रकाशन के दूसरे वर्ष में पदार्पण कर रही है। ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने के कारण हम इसका प्रकाशन द्विमासिक कर देने के इरादे को कार्यान्वित नहीं कर पाये हैं। यदि ग्राहकों की संख्या संतोषजनक हो गयी, तो इसे इसी वर्ष द्विमासिक कर दिया जायेगा। पाठकों से अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थना करते हुये पत्रिका के विषय में सुझाव भेजने की प्रार्थना है। इस वर्ष कुछ सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए पत्रिका का साइज़ कुछ छोटा कर दिया गया है, और पन्ने बढ़ा दिये गये हैं।

❀ भजन ❀

हमारे प्रभु औगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तुम्हारो, सोई पार करो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
सो दुबिधा पारस नहिं राखत कंचन करत खरो॥
इक नदिया, इक नार कहावत, मैलो नीर भरो,
जब दोऊ मिलि एक बरन भये, गंगा नाम परो॥
तन माया जिव ब्रह्म कहावत सूर सो मिलि बिगरो,
कै इन को निरधार कीजिये, कै पन जात टरो॥

—सूरदास

1957 March

अख़लाक़

[समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी महाराज फ़तेहगढ़]

एक बात मैं हर शख़्स से कहता हूँ, बल्कि बआवाज़े दुहल(२) कहता हूँ कि अपनी अख़लाक़ी हालत सम्हालने की हर जिज्ञासु प्रारम्भ से ही कोशिश करे। कोई बात मुँह से न निकाले, जो दूसरों को नागवार हो, और न कोई ऐसी हरकत करे, जो दूसरों को नापसन्द हो। इन दोनों बातों का ख्याल रखते हुये अख़लाक़ के सुधार में लग जाओ—यही इब्तिदायी उसूल(३) है। मैं रूहानियत(४) का इस क़दर दिलदादः(५) नहीं, जितना कि अख़लाक़ का। कोई शख़्स अगर ध्रुव-पद तक अपनी रसाई(६) कर ले, मगर अख़लाक़ी कमज़ोरियाँ बाक़ी रहें, तो मैं समझता हूँ कि अब तक उसे असल जौहर(७) प्राप्त नहीं हुआ।

मुकम्मल अख़लाक़(८) यह है कि हर चीज़ जो इन्सान में है, एतदाल(९) पर आ जावे, और वही कैफ़ियत(१०) अपना ले। यदि इसका भी अभाव कर दे, तो इस की बराबरी कोई नहीं कर सकता। यह बात ज़रूर मुश्किल से नसीब होती है। किन्तु इस का यह अर्थ नहीं, कि हिम्मत न बाँधी जाये।

अब प्रश्न उठता है कि क्या तहज़ीब(११) व अख़लाक़ के बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती? इस का बरतना क्यों ज़रूरी है, और इस का असल उसूल क्या है?

आग़ाज़े-आलम(१२) से पहले हर चीज़ कामिल अख़लाक़(१३) पर थी। ज़माना गुज़रता गया। Balance (समत्व) नहीं रहा। प्रत्येक आध्यात्मिक संस्था किसी न किसी रूप में यह

१—चरित्र, २—नगाड़ा बजाकर, ३—प्रारम्भिक सिद्धान्त, ४—आध्यात्मिकता, ५—प्रशंसक, प्रेमी, ६—पहुंच, ७—वास्तविक तत्व ८—चरित्र की पूर्णता, ९—सम अवस्था, १०—स्थिति, ११—सदाचरण। १२—सृष्टि का प्रारम्भ, १३—चरित्र की पूर्णता।

मक़सद[14] रखती है, कि हम अख़लाक़ को अपना लें, जिस से कि वही कैफ़ियत हमारी बन जावे, जो प्रारम्भ में थी। अख़लाक केवल यही नहीं है कि दूसरों को केवल खुश किया जाये, बल्कि इस के व्यापक अर्थ हैं। वह यह कि हम अपने हवासों[15] को इस क़दर एतदाल पर ले आवें कि उन की उसी से मिलती जुलती कैफ़ियत हो जावे, जो ऊपर बयान की गई है। हम अपने हवासों पर इस क़दर Pressure (दबाव) डाल दें, कि वह इस हद तक उभर न सकें, जिस हद तक उभरना नहीं चाहिए। यह बात कैसे हो सकती है? इस के लिए ख़ारजी असरात[16] भी मददगार[17] होते हैं। बहुत सी छोटी छोटी बातें जो ज़ाहिरा तौर व तरीके में बरती जाती हैं, इस को मदद देती हैं, और मन पर असरात[18] डालती हैं। हम एक बुजुर्ग के पास जाते हैं, तो ज़ाहिरा अदब[19] बरतते हैं। [बुजुर्ग से मेरा अर्थ केवल रूहानी बुजुर्ग से नहीं है, बल्कि जो भी अपने से बड़े हैं।] जिस समय हम पहुँचते हैं, पहला ख्याल यह होता है कि कोई बात हम से ऐसी सरज़द[20] न हो जावे, जो हमारे बुजुर्ग को नागवार हो, बल्कि यह कोशिश की जाती है, कि रफ्तार[21] गुफ्तार[22] और सकनात[23] से भी यह बात ज़ाहिर न होने पावे; कम से कम उतनी देर के लिए हम अपने जज़्बात[24] को क़ाबू[25] में रखते हैं। गोया यह मश्क[26] है, उस आला[27] अख़लाक़ पर पहुँचने के लिए। अगर अपनी यही आदत बना ली जावे, तो कुदरती[28] तौर पर हवासों की स्वयं ही दबाव की सूरत पैदा हो जावेगी। इस के विरुद्ध यदि हम इस बात पर अमल नहीं करते तो वह सूरत बिगड़ती ही रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि सदाचार के नियमों का पालन किया जावे। अख़लाक़ सम्हालने के वास्तविक अर्थ यह हैं, कि हम एतदाल क़ायम कर के प्रकृति से हम-आहन्गी[29] पैदा कर सकें, या दूसरे शब्दों में हम इस क़दर इस चीज़ को उस (प्रकृति) में पेवस्त[30] कर दें कि दूसरी चीज न मालूम हो। सच यो यह है कि अख़्लाक रूहानियत की जान है।

१४—लक्ष्य १५—इन्द्रियाँ, १६—वाह्यप्रभाव, १७—सहायक, १८—प्रभाव, १९—सत्कार प्रदर्शन, २०—घटित, २१—चाल ढाल, २२—बालचीत, २३—हाव भाव, २४—आवेग, २५—नियंत्रण, २६—अभ्यास, २७—उच्च २८—प्राकृतिक, २९—एकरूपता, तादात्मय, ३०—डुबो देना।

वास्तविक भक्ति

(श्री रामचन्द्रजी, शाहजहाँपुर)

इस दुनिया में बेशुमार इन्सान हैं। सतयुग से अधिक! किस अर्थ में—संख्या में और भक्ति में! घर घर भक्ति मिलेगी। औरतें अपने राग और ढोलक में मस्त मिलेंगी। मन्दिर में पूजा भी होगी, खैरात भी तकसीम होगी, मानता इस कदर होगी कि कोई महीना खाली नहीं। बेशुमार स्त्रियाँ यही करती मिलेंगी। पुरुषों का यह हाल है कि धार्मिक लेक्चर में जाते मिलेंगे, और मन्दिर में आवाज लगाते भी। सत्यनारायण की कथा तो घर घर पढ़ी जाती है। जितनी बातें हैं, सब यह ज़ाहिर कर रही हैं कि किसी न किसी शक्ल में भक्ति जरूर हो रही है। स्तुतियों का यह ठिकाना है कि उन से किताबें भर गईं। गाने वालों का यह हाल है कि सड़क पर नारे लगाते चले जाते हैं। बहस का यह आलम है कि कोई शख्स तुरीय और तुरीयातीत से कम ख़याल ही ज़ाहिर नहीं करता। जीव और ईश्वर का हर जगह चर्चा ही चर्चा है। भला यह भक्ति आप को किस ज़माने में मिलेगी! यह भक्ति और यह ज़ोर, भाई, इसी ज़माने में मिलेंगे। और गुरुओं की संख्या, जो इन पूजाओं को बतलाते हैं, कदाचित किसी ज़माने से कम न होगी। यहाँ हर व्यक्ति कोई न कोई अमल बताने को तैयार है। अगर यह सब बातें लोग एक साथ करने लग जायें, तो मैं समझता हूँ, कि आसमान गूँज उठेगा। मगर भाई, वह गूँज आसमान तक ही रह गई, दिल पर वापस नहीं हुई। उस का असर शून्य तक ही सीमित रहा। उस ने हमारा साथ छोड़ दिया। और हम ज्यों के त्यों रहे। स्तुति करते करते ज़माना बीत गया। बुड्ढे हो गये, कुछ न मिला। हम ऐंठे भी, रोये भी, सब कुछ किया, मगर भाई, यह सब चीजें अपनी ही जगह पर रह गईं, और हम कोरे के कोरे। हम ने, गोया, सब कुछ अपने में से निकाल कर फेंक दिया.

मगर ग्रहण कुछ न किया। रवानगी ही रही, आमद कुछ न हुई। यह नतीजा अवश्य हुआ कि हम अपने ख़याल से भक्त बन गये, और लोगों ने भी इसी लिहाज से हमारी कद्र की। जहां बैठे, भक्त ही बनकर उठे, जहां पहुंचे, तारीफ़ ही हुई, जहां गये, दूसरों की निगाह में भले आदमी ही सिद्ध हुए। हमें अपने सब कार्य कलाप का बदला मिल गया, और कितनी जल्दी! नतीजा यह भी हुआ कि अब हम अपनी मजलिस में भक्त माने जाने लगे, और मेहनत की कदर खूब बढ़ चढ़ कर हुई। गुरू की पदवी मिल गई। अब, गोया, भक्त मण्डली में हम और भी सरताज बने। हम इसी के हो कर रह गये। हमारी दौड़ अब ख़त्म हो गई। हमारी खुशामद का बदला हम को मिल गया।

यह सब बातें जो हमने की थीं, ईश्वर की खुशामद थी। हर काम का नतीजा जरूर होता है, लिहाजा इस का भी नतीजा हुआ, और कैसा अच्छा! ग़ौर की निगाह से आप देखें, तो जितनी इबादत अब इस जमाने में हो रही है, सिवाय ईश्वर की खुशामद के उस की कोई हक़ीकत नहीं। खुशामद में ग़रज भी शामिल होती है, और इसी लिए लोग इसे मुनासिब समझते हैं। जब तक दिली जज्बा पैदा न हो, इबादत नहीं कही जा सकती। यह खुशामद है, इसी लिए लोग सब कुछ करते हुए भी, उस महान निधि से, जो लाजवाब और अटल है, वञ्चित रहते हैं।

मेरा इस कुल मजमून से मतलब यह है कि हमारे यहाँ अभ्यासियों में तरक्की के चिन्ह जाहिर इस वजह से नहीं होते, कि वह ईश्वर की खुशामद में लगे रहते हैं। भक्ति का जज्बा वास्तविक अर्थ में पैदा नहीं होता। खुशामद और भक्ति का अन्तर स्पष्ट ही है। खुशामद में ग़रज छिपी हुई है, और भोंड़ी ग़रज। भक्ति में भी ग़रज होती है, मगर उस ग़रज के बाद कोई ग़रज हो ही नहीं सकती, और न ख़याल में आती है।

यदि आप निगाहे ग़ौर से देखें, तो वास्तविक भक्ति के साथ पाई जाने वाली ग़रज वास्तव में ग़रज नहीं हैं। बल्कि यह तो अपने घर की याद है, जो बहुत दिनों तक सफ़र करते करते आ ही जाती है। बुलबुल को अपने खोये हुए आशियाने का ख़याल

जरूर आता है, भले ही वह कितना ही अपने ख़याल को गुल (फूल) में लगाये रक्खे। हम यदि अपने घर का ख़याल न रक्खें, और वास्तविक ध्येय की याद में रहें, तो यह सम्भव नहीं कि हम अपने असल ठिकाने की याद से ग़ाफ़िल हो जायें। यह असल ठिकाना और कुछ नहीं, बल्कि वह ठिकाना है, जिस के बाद ठिकाना ही नहीं रहता, जिस के बाद ग़रज ही नहीं रहती। इस ग़रज को ग़रज कहना वास्तव में ग़ल्ती है।

खुशामद में लगाव नहीं होता। इधर खुशामद के अल्फ़ाज ख़त्म हुए, और आप उस से अलग! फिर कुछ मतलब नहीं। यही लगाव निरन्तर स्मरण (*Constant Remembrance*) है, और इसी को भक्ति कह सकते हैं। जब तक अभ्यासी में यह बात पैदा न हो जाये, उस की हैसियत सिवाय भाड़े के टट्टू के कुछ नहीं है। इस जमाने में जितनी पूजाएँ हो रही हैं, लगभग सब खुशामद के दायरे में आ रही हैं, और उस से जौ भर नहीं हटतीं। इसी से लोग तमाम उम्र 'ता-ता-री-री' करते रहते हैं, और कुछ लाभ नहीं होता। जब किसी बादशाह की सल्तनत में बड़ी संख्या खुशामदियों की एकत्र हो जाती है, तो क़ाबिलियत अपने असल पैमाना पर काम करना छोड़ देती है, और निज़ाम बिगड़ने लगता है। फिर क्या होता है—कि बादशाह के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि किसी प्रकार उन की खुशामद छुड़ाई जाये, जिस से कि वह असल काम के बनें, और इसी के लिए कोशिश की जाती है। होता है, कि इस कोशिश में उन पर जब्र और सख्ती की जाये, ताकि वह सुधरें। बहुत मुमकिन है कि सर्वशक्तिमान प्रकृति ने यह रूख ले लिया हो।

(एक पत्र से उद्धृत)

* * * * * *

एक दिन समथ गुरू से मिलने एक महात्मा जी आए। सत्संगियों की भीड़ थी। एक सज्जन ने अभ्यास में कमी की बात चलने पर कहा, "गुरू की कृपा हो तो अभ्यास की क्या आवश्यकता?"

महात्मा जी बोल उठे; "रोगी चाहता है कि हकीम अपनी नब्ज देखे, मज़ जान ले, और दवा बना कर खुद पी ले, और लाभ रोगी को हो जाये।"

सहज-मार्ग साधना-पद्धति की

कुछ विशेषताएँ

(श्री श्रीपति सर्ना , गुलबर्गा)

सहज मार्ग की साधना के अभ्यास का मेरा अनुभव अभी अत्यन्त अल्प है । अतः उस की विशेषताओं के विषय में मेरा ज्ञान नितान्त अपर्याप्त ही है । फिर भी इतने समय में जिन विशेषताओं पर मेरी दृष्टि गई है, उन्हें पाठकों के सामने रखने का प्रयास कर रहा हूँ ।

यह तो सभी को विदित है कि आत्म-साक्षात्कार के पथ को अपनाने वालों के लिए महर्षि पतञ्जलि का 'योग दर्शन' अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है । उसमें जिस योग का वर्णन है, उसे 'राज योग' कहते हैं । 'सहज-मार्ग' का विकास उसी राज-योग के आधार पर हुआ है । किन्तु आज के युग की बदली हुई परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन राज योग की पद्धति में ऐसे परिवर्धन कर दिये गये हैं, जिन के कारण अभ्यासी को अपने लक्ष्य की ओर प्रगति करने में अत्यधिक सुगमता का अनुभव होता है । इन परिवर्धनों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विशेषताओं का परिचय देने का प्रयास करूँगा ।

योग के आठ अङ्ग हैं:

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । पतंजलि ने इन आठ अंगों को 'साधनपाद' में क्रमशः वर्णन करते हुए कहा है कि इन योगाँगों के अनुष्ठान से मन का मैल दूर होकर ज्ञान का उदय होगा और विवेक प्रस्थापित होगा । "योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिराविवेक ख्यातेः । "

अब इन यम-नियमों का विवरण देखें, तो पता चलता है कि इन्हें अच्छी तरह से आचरण में लाने तथा सिद्ध कर लेने के लिए वर्तमान परिस्थिति में एक जन्म तो क्या, कई जन्म भी पर्याप्त

न होंगे । इसी को दृष्टि में रखकर श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है कि 'अनेक जन्मों की संसिद्धि के बाद मनुष्य परम पद को पाता है '—"अनेक जन्म संसिद्धिः ततोयाति पराम्गतिम्" । और यह सत्य भी है । केवल अपने ही प्रयत्न के बल से इस मार्ग पर चलने में अधिक समय लग जाता है । किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि क्या योग के पहले अंग को सिद्ध किये बिना अगले अंग की ओर बढ़ ही नहीं सकते ? मेरी समझ में 'नहीं' के उत्तर ने बहुत से लोगों को निराश करके इस क्षेत्र में पदार्पण करने से भी वंचित कर रखा है । पर सहज मार्ग में इन पहले अंगों को गौण स्थान देकर प्रारम्भ से ही लम्बी छलाँग ली जाती है जिससे साधक को स्फूर्ति मिल जाती है । इस का अर्थ यह नहीं है कि यम-नियमादि व्यर्थ की चीजें हैं । अभिप्राय केवल इतना है कि सहज मार्ग में वे परिणाम स्वरूप आते जाते हैं, न कि प्रारम्भ से ही उन्हीं को लक्ष्य में रखकर साधन करने की आवश्यकता होती है ।

दूसरी विशेषता यह है कि सहज मार्ग में मन को वश करना या एकाग्र करना एक स्वतन्त्र साधन मानकर उसी का अभ्यास नहीं किया जाता । योगसूत्र में, हमारे सब दुःखों का कारण दृष्ट वस्तुओं से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध बतला कर इस सम्बन्ध का कारण जो अविद्या है उसे नष्ट करने को कहा गया है । "दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः । तस्य हेतुरविद्या । तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् । " इसका यही तात्पर्य है कि मन को दृष्ट वस्तुओं के संयोग से रोक दिया जाये । किन्तु यह साधन इसलिए जल्द सफल नहीं होता कि मन को रोकने के लिए उसके सामने कोई अन्य आकर्षक वस्तु नहीं रखी जाती । सहज मार्ग में मन को पहले ईश्वर से आसक्त होने का अभ्यास कराया जाता है । ध्येय का निरंतर चिन्तन करना सिखाया जाता है । परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे विषयों में अनासक्ति अपने आप उत्पन्न होती जाती है । हमारे पूज्य श्री बाबू जी महाराज कहा करते हैं *"Be attached to God first detachment will follow automatically."* अर्थात् पहले ईश्वर से प्रेम पैदा करो, अनासक्ति (वैराग्य) अपने आप आ जायेगी । विद्यारण्य स्वामी जी भी अपने "जीवन्मुक्ति-विवेक" में मन को वश में लाने का लगभग यही तरीका बताते

हैं। "–जिस तरह चपल पशु को घास आदि दिखा कर आसानी से बाँधा जाता है, उसी तरह मन को कुछ ऐसी चीज़—अर्थात् ईश्वर चिन्तन दी जाये जिससे वह खुदबखुद अपने अधीन हो जाये।" इसे उनके शब्दों में ही सुनियेः—"चपलस्य पशोः बन्ध-स्थाने प्रवेशनाय द्वावुपायौ भवत। हरित तृण प्रदर्शनं कण्डूयनादिकं, वाक्पारुष्यं दण्डादिभर्त्सनं चेति। तत्राद्येन सहसा न प्रवेश्यते, द्वितीयेन इतस्ततो धावत् शनैः शनैः प्रवेश्यते। तथा शत्रु मित्रादि समत्वं सुख-बोधनं, प्राणायाम-प्रत्याहारादि पुरुष प्रयत्नश्च इत्येतौ द्वौ चित्तशान्त्यु पायौ। आद्येन मृदुयोगेन शीघ्रं लालयेत्। द्वितीयेन हठयोगेन-द्रागिति न लालयेत् किन्तु शनैः शनैः"। यहाँ हम देखते हैं कि प्राणायामादि साधनों से मन सहज में वश नहीं होता क्योंकि वे ज़रा कृत्रिम से हो जाते हैं। इनसे वृत्तियाँ जल्दी शान्त नहीं होतीं।

और एक विशेषता यह है कि यहाँ समय समय पर अभ्यासी की मनःस्थिति पूछी जाती है और तदनुकूल सलाह दी जाती है। सामान्यतः हम यही देखते हैं कि गुरू शिष्य को एक इष्ट मन्त्र का उपदेश करता है, या कोई साधन बता देता है जिसे शिष्य अपने जन्म भर करता रहता है। फिर गुरू यह नहीं पूछता कि शिष्य के मन का हाल क्या है। बड़े खेद से कहना पड़ता है कि इस समय जितने भी हमारे धर्मगुरू कहलाते हैं वे भूलकर भी नहीं पूछते कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो रही है या नहीं, और यदि हो रही है तो किस मंज़िल तक पहुंची है। हमारी समस्याओं को हल करने में तो ऐसे गुरूओं की आवश्यकता होती है जो अपनी शक्ति से सेंक दे देकर ध्येय की ओर जाने में सहायता करते हैं। क्योंकि यहां चन्द ज़बानी बातें बतला देने से या किताबों को पढ़ने के लिए कह देने से काम नहीं चलता। हममें यदि यह शक्ति होती तो उन चीज़ों को जो हमने किताबों में पढ़ी है खुद ही कर लेते। किन्तु अभ्यासी को तो ऐसे गुरू की ज़रूरत होती है जो अन्धेरे में उजाला कर दे, और हाथ पकड़ कर मार्ग पर चलाये।

एक और विशेषता जो महत्वपूर्ण है प्राणाहुति या

Transmisson की है। गुरू जी अपनी प्राणशक्ति से अभ्यासी के मन की सफ़ाई किया करते हैं तथा उसे ऊर्ध्वमुख कर देते हैं। हमारी अधोगामी प्रवृत्तियाँ (*Lower tendencies*) धीरे धीरे शान्त होने लगती हैं। जिस स्थिति को अपने प्रयत्न से प्राप्त करने में बरसों लग जाते हैं उसे हम प्राणाहुति की सहायता से बहुत ही कम समय में पा लेते हैं। तात्पर्य यह है कि सब प्रत्यवायों का भोग तो हमें करना ही पड़ता है। पर जहां भाला लगना होता है वहां सुई चुभती है।

बस, जिन विशेषताओं को मैंने इस अल्पकाल में अनुभव किया है वह आपके सामने रख दी हैं। और एक बात मैं यहाँ पर कहे बिना नहीं रह सकता। वह यह है कि लोग इस मार्ग पर क़दम रखने से घबरा जाते हैं। वे समझते हैं कि उन्हें घर-बार, बीबी-बच्चे इन सबको छोड़ना पड़ता है। पर यहाँ कुछ भी छोड़ना नहीं। छोड़ना तो है केवल अपने अनावश्यक तथा कल्पित मोह को। और वह भी कृत्रिम उपायों से नहीं बल्कि सहज और सुगम साधनों से। इसलिए जो भी अध्यात्म में अभिरुचि रखते हैं और चाहते हैं कि इसी जन्म में अनन्त तथा अक्षय सुख को प्राप्त करें, उनको चाहिए कि सुगम साधन पथ पर चलें तथा अपने पूर्व दुराग्रहों को छोड़कर जो भी मार्ग अत्यन्त सहायक और सरल दिखाई दे, उसे अपनाकर निःश्रेयस सिद्धि प्राप्त करें, क्योंकि उपनिषद कहता है 'नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। अर्थात्"यदि हम उसे यहीं पर नहीं पा लेंगे तो हमारा घोर विनाश होगा"।

* * * * * *

समर्थ गुरु पार्थिव शरीर छोड़ने के पूर्व रोग-शय्या पर थे। जिगर के घातक फोड़े का दर्द असह्य था। ऐसी स्थिति में बहुधा वह कोई भजन गाने लगते थे, और कहते थे कि "जब चीखना है, तो मालिक की याद में ही क्यों न चिल्लाया जाये!" किसी सत्संगी ने एक दिन उनसे पूछा, "आप रोग को दूर कर सकते हैं, फिर ऐसा क्यों नहीं करते? उत्तर मिला, "मालिक से मिले हुए प्रसाद को फेंकने की सामर्थ्य कहाँ!"

तीन प्रश्न

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, लखीमपुर-खीरी)

"धधकती अग्नि में कूद कर बलि दे सकोगे ? अपने हाथों अपना मस्तक उतार सकोगे ? लहराते सागर में गोते लगा सकोगे, नेमी ? यदि यह असम्भव नहीं है तो फिर सब कुछ संभव है।"

करबद्ध, नत-मस्तक खड़ा है नेमी।

दो चमकीले नेत्रों ने उत्तर माँगा। "यदि नहीं, तो जाओ लौट जाओ नेमी। यदि लुटना नहीं चाहते तो लूट भी कैसे सकते हो ! यदि विक्रय नहीं जानते तो क्रय क्या करोगे ! जाओ जब असम्भव शब्द तुम्हारे लिए अर्थहीन हो जाये तब इस द्वार को खटखटाने का प्रयत्न करना अन्यथा कष्ट करने से लाभ ही क्या।"

निराश नेमी लौट चला अपनी कुटिया की ओर। इतना जप तप किया। कितनी धूल छानी दर-दर की। कितने आश्रमों के आगे मस्तक झुकाया किन्तु सब व्यर्थ। नेमी के नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बाँध तोड़ कर बह चली। देवी ने वरदान तो दूर रहा एक बात भी न पूछी। सारी भक्ति, सारी साधना का कुछ भी परिणाम न निकला। उल्टे असम्भव शर्तें प्रस्तुत करके उसे निरुत्तर और निरुत्साह कर दिया।

किन्तु वे शर्तें क्या थीं ?

स्मरण करता जा रहा है नेमी।

'धधकती अग्नि में कूदना असम्भव है। अपने हाथों अपना मस्तक तो क्या ज़रा सी उँगली काटना भी कठिन है। और लहराते सागर में गोते लगाना नितान्त सारहीन शर्तें हैं।

किंतु नेमी,.....यदि कोई भी इन्हें संभव न कर दिखाता तो इन शर्तों की रचना ही क्यों हुई होती ? बिना नींव के दीवार नहीं खड़ी हो सकती, बिना जल की सृष्टि के प्यास का सृजन न होता और बिना सृजन के विनाश असम्भव है। ज़रा सोचो नेमी संभव की नींव पर ही तो अनिवार्य की भीति खड़ी हुई है। संभव में ज्योति है, असंभव में अंधकार। तुम किस ओर जा रहे हो ?

'ओह' मस्तक पकड़ कर बैठ गया नेमी। वह नेमी जिसका ज्योति पीछा किया करती थी, आज अन्धकार की ओर झाँक रहा है।

क्या नेमी दोषी नहीं ? नहीं, कदापि नहीं।

क्यों ?

क्योंकि अन्धकार की ओर झाँकने वाला नेमी नहीं बल्कि उस की प्रतिछाया थी। नेम साधते साधते ही तो वह नेमी बन गया और दृढ़ता की ज्योति उसके मस्तक पर विराजने लगी थी।

एकाएक किसी का दृढ़ किंतु मृदु -स्पर्शीय सुकोमल-कर उसके मस्तक पर आ चुका था और वह कठोर हो चुका था। उसके नेत्रों में दिव्य-ज्योति थी, दोनों मुट्ठियाँ कसी हुई थीं। जा रहा है नेमी अपनी कुटिया की ओर। 'स्मरण रखना देवि कि तुम्हें कोई ऐसा पुत्र मिला था जिसने तुम्हारी असम्भव शर्तों को संभव कर दिखलाया था। जिसने मस्तक को पैरों तले ठुकराया और चरणों को मस्तक का स्थान दिया। देखना मेरी जननी ! तुम्हारे शिशु ने तुम्हारा तन्य लज्जित नहीं किया वरन् आकाश के तारे धरणी पर तोड़ लाया। जा रहा है नेमी ! यदि शर्तों को कभी सरल करके प्रत्यक्ष कर सका तो संसार पुनः उसका मुख देख सकेगा अन्यथा नहीं।'

और वह चल पड़ा अज्ञात दिशा की ओर सदैव के लिए निर्जन वन में।

किंतु ?

किंतु क्या है; नेमी नहीं रुक सकता; कदापि नहीं ठहर सकता।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

"इतने आकुल व्याकुल से कहाँ चले जा रहे हो नेमी ?"

"कौन निर्जन पथ पर भी मुझे पुकार रहा है ? मैं किंचित मात्र भी रुक नहीं सकता।"

"रुक नहीं सकते तो क्या ठहर भी नहीं सकते। निरंतर वेग से बहती हुई नदियों के प्रवाह में भी ठहराव आता है। सागर की लोल लहरियों में भी क्षणिक ही सही, किंतु ठहराव आता है। यही नहीं, समस्त संसार-चक्र के भी विश्रान का समय कभी आता है, किंतु तुम्हें ऐसा कौन सा काम है जो तुम ठहरना नहीं चाहते नेमी, ज़रा मैं भी तो सुनूँ।

'अवकाश नहीं है ?'

'किन्तु तुम्हें अवकाश निकालना ही होगा।' गंभीर वाणी निर्जन पथ पर गूँज उठी। 'बिना अवकाश के कोई भी समस्या आज तक सरल न हो सकी है और न हो सकती है और न कभी होगी। इस चलते-फिरते मिट्टी के पुतले को भी एक न एक दिन अवकाश की आवश्यकता पड़ ही जाती है। मृत्यु-शैया पर पड़े कंकाल को भी तीन केवल तीन हिचकियों के लिए ठहरना ही पड़ता है। फिर मानव ही है; उसकी बिसात ही कितनी।'

नेमी ने घूम कर देखा तो अवाक्। सफेद कुर्त्ता-टोपी पहने एक लकुटि के सहारे एक वृद्ध महापुरुष उसके पीछे चले आ रहे थे।

वह लौट पड़ा और महापुरुष के चरणों पर झुक गया। इतने ब्रह्म-तेज से दीप्त मुख! वह दंग रह गया। 'कौन दिव्य महा—विभूति आज धरणी-तल पर मुझ दीन कीटाणु के लिए बिखर पड़ी है? मैं अपने समक्ष किन महात्मन का दर्शन कर कृत-कृत्य हो रहा हूँ।'

"कहाँ नेमी! एक जीर्ण काय मानव के लिए इतनी शब्द-रचना की क्या आवश्यकता थी। तुम्हें अवकाश न था निरीह भोले मानव क्योंकि तुमने ऐसा द्वार ही न खोज पाया था जिस में प्रवेश कर जाने पर चारों ओर अवकाश ही अवकाश है। तुमने ऐसी भूमि ही न देखी थी जिसमें आकाश व्याप्त न हो। तुमने ऐसा नर-कंकाल ही न पाया जो तुम्हें ऐसे द्वार तक पहुँचा सके, ऐसी भूमि पर खड़ा कर सके"

"तो क्या आज मेरी व्यथित पुकार सच ही ऐसे महामानव को जगा लाई? मैं क्या समझूँ मेरे वरदानी?"

"तुम कुछ न समझो नेमी। तुम वही समझो जो समझने योग्य हो। समस्त धरणी-तल पाताल एवं आकाश में केवल वही एक शक्ति व्याप्त है, जिसे तुम किन्हीं कारणों वश विस्मृत कर चुके थे उसे ही स्मरण करो नेमी। तुम्हारा कल्याण होगा।"

और इतना कह कर सच ही न जाने कहाँ लुप्त हो गई वह शक्ति, और नेमी बेचारा अपलक निहारता रह गया उस दिव्य-विभूति को जो धोके से इस धरणी पर बिखर पड़ी थी। वह चलता गया। कुटीर आ गया और उसके पैर स्वयं ही ठहर गये। परंतु नेमी को कुछ पता नहीं। कहाँ रुकना होगा? क्या जाने वह बेचारा।

वह क्या जाने कि जैसे गन्तव्य आते ही अनजाने ही पग स्वयं ही ठहर जाते हैं उसी प्रकार विचारते विचारते प्रश्न भी स्वयं ही सरल हो जाया करते हैं।

* * * * * * *

होली का प्रभात था। भुवन-भास्कर ने पिचकारी भर कर बिखेर ही दिया तूली रंग ऊषा पर। किंतु नेमी के लिए होली नहीं ठठोली थी।

किसी ने मुस्करा कर कहा "नेमी बगुला हो गया है।" किसी ने कहा "गीध है गीध, जरा बच कर चलना भाई।" कोई धीरे से बोली "महात्मा है महात्मा, बचे रहना।" ठिठोली थी न आज।

परंतु नेमी तो नेमी ही था। उसके लिए तो प्रतिदिन होली ही होली थी क्योंकि उस पर रंग ही ऐसा चढ़ चुका था। पक्षियों का झुंड कलरव करता निकल जाता परंतु होश किसे था। ऊषा झिल-मिल साड़ी पहिने आती, प्रतीक्षा करते करते रुपहली पड़ जाती, परंतु वह तो जैसे नेत्र फोड़ कर बैठा हो।

अचानक कुटिया में आग लगी, वह धू—धू करके जल उठी। प्रज्वलित लपटों के मध्य नेमी ने देखा कि क्षितिज पार एक मधुर-मुस्कान-युक्त दिव्य-सरल-मुखाकृति और वह निर्निमेष निहारता ही रह गया। कुटिया जलते जलते बुझने भी लगी। लपटें छोटी पड़ते पड़ते समाप्त प्राय हो चलीं। नेमी का सारा कार—बार जल कर भस्म हो गया परंतु अभी कुटिया सुलग रही थी कि एक मधुर-स्वर ने उसके कर्ण-कुहरों में प्रवेश किया—"नेमी! कुटिया तो जल गई। खैर जाने दो, तुम तो बच निकले। प्रेम की नगरी में अग्नि में कूद कर बलि देना असंभव है, किंतु साथ ही अनिवार्य भी"।

* * * * * * *

एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते।

ग्रीष्म ऋतु थी। एक दिन नीम की छांव में बैठा बैठा ऊंघ सा गया था वह। शीतल, सुखद समीर मंद मंद गति से बह रहा था और वृक्षों की टहनियाँ झूम झूम कर मस्त हो रही थी। तपित मृग-छौनों का झुंड ऊँघते नेमी के मुख को मानों अपनी आँखों में बंद कर लेना चाहता था। नेमी उन्हें चुगाता, जल पिलाता, उनसे खेलता, उनकी आपबीती सुनता और अपनी सुनाता और फिर चौकड़ी

भर कर दौड़ में मानों प्रतियोगी की सदृश आगे-पीछे जाते देखकर घन्टों ध्यानावस्थित हो विचारता, प्रार्थना करता—"हे ईश्वर ! मेरे पगों में, मेरी चाल में वही गति हो जो इन भोले-भाले मृगशावकों के पगों में विद्यमान है।"

आज उसे ऊँघते देख कर कुछ मृगों से रहा न गया। वे उसके शरीर से अपने शरीर रगड़ कर अपनी खुजली निटाने लगे। तब अचानक उसकी ऊँघ हटी और वह खेलने लगा एक अदृश्य खेल।

उसके कर मृगशावकों की पीठ सहला रहे थे और हृदय में अंतर्द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। 'कैसे पाऊँ, कहाँ ढूँढूं ? किससे पूछूँ, कहां जाऊँ ? इससे तो नींद ही अच्छी थी, चैन तो था। स्वप्न में कभी 'उसके' दर्शन तो मिल जाते थे। इस जागने से तो अच्छा था कि निद्रा ही मिल जाती। ऐसा मन होता है कि मस्तक को काट कर फेंक दूँ।'

और अचानक, ? बिजली सी कौंध आई।

'अपने हाथों अपना मस्तक उतार सकोगे ?।' दो चमकीले नेत्रों ने उत्तर माँगा।

प्रश्न सरल हो चुका था परंतु अबोध था वह। क्या जाने बेचारा कि अनुराग चेतनाहीन होता है। फिर अचेतन जगत में चेतन से अनुराग कहाँ ? उसे चुप देख मृगछौने भी एक-एक कर भाग गये। रह गया एकाकी विचार मग्न नेमी। उसके नेत्रों ने तो हृदयस्थल के भीतर किसी को बंद कर कपाट दे लिये थे।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

दिन पर दिन, महीने पर महीने एवं वर्ष पर वर्ष व्यतीत होने लगे।

नेमी का जीवन साधारणतः चल रहा था। जो मिलता खा लेता, जब मर्जी होती सो जाता, जब इच्छा होती उठ जाता। एक अलख-शक्ति उसे जहाँ बिठालती, बैठ जाता, जब उठाती उठ जाता, जो खिलाती, खा लेता, जो पहिनाती, पहिन लेता। उसने तो मानो

अपना सब कुछ खो दिया था।

किन्तु, कोई उससे कहता कि "सब कुछ खोकर ही कुछ पाया जाता है नेमी ! उठती पैंठ ही सस्ती रहतीं है। मिट्टी देकर ही हीरा खरीदा जा सकता है। मोल देकर ही अनमोल की प्राप्ति होती है।"

एक रात सोया पड़ा था नेमी। स्वप्न में देख रहा है कि सब ओर जल ही जल भरा हुआ है और जल के मध्य खड़ा है नेमी। न इधर चलता है, न उधर हटता है।

"जरा इधर आओ नेमी।"

कहाँ से सुमधुर स्वर आ रहा है। नेमी के कान खड़े हो गये।

"भाई नेमी, इधर आओ न मेरे पास।"

पीछे मुड़ कर देखा उसने तो देखता ही रह गया। बहुत दूर तीर पर खड़ी वही दिव्य मूर्ति। और तुरंत ही उसके नेत्रों के समक्ष घूम गया वह दृश्य.....

वह बड़बड़ा उठा "लहराते सागर में गोते लगा सकोगे, नेमी ? यदि यह असम्भव नहीं है तो सब कुछ संभव है और.....जाओ जब तुम्हारे लिए 'असंभव' शब्द अर्थहीन हो जाये तब इस द्वार को खटखटाने का प्रयत्न करना, अन्यथा कष्ट करने से लाभ ही क्या ?"

और वह दौड़ चला तीर पर उस दिव्य मूर्ति के पास।

जल कमर तक आया, परवाह नहीं। बढ़ता ही जा रहा है वह।.... जल छाती तक आया, चिन्ता नहीं, डग भरता ही जा रहा है वह। जल होठों तक आया परन्तु चेतना कहाँ उसे। वह और तेजी से दौड़ा किनारे की ओर।

और तब अचानक ही 'बुद-बुद' ध्वनि के बीच जलमग्न नेमी को दो सुकोमल करों ने समेट लिया। वह उन चरणों पर झुक कर उनमें समा जाना चाहता था। किन्तु चरणों पर झुकते ही ?.....

"तीनों शर्तें पूरी हो गई नेमी ?"

वाक्य पूर्ण होते न होते नेमी की आँख खुल गई। वह हड़बड़ा कर उठ बैठा किन्तु उसके कर्ण-कुहरों में, अब भी गूँज रही थीं—

वह तीन, केवल तीन शर्तें।

अभ्यासी के अनुभव

[इस स्तम्भ के अन्तर्गत प्रत्येक अंक में किसी एक अभ्यासी का व्यक्तिगत अनुभव दिया जाता है। किन्तु व्यक्तिगत अनुभव देते समय स्वाभाविक रूप से आ जाने वाली आत्म-प्रशंसा की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखने की दृष्टि से अभ्यासी का नाम प्रकाशित नहीं किया जाता। अभ्यासियों से प्रार्थना है कि इस स्तम्भ के लिए लेख लिखते समय ऐसी बातों पर ही बल देने का प्रयास करें जो हमारी साधना-पद्धति की विशेषताओं पर प्रकाश डालने में सहायक हों—सम्पादक]

मुझे बचपन से ही धार्मिक और आध्यात्मिक बातों में रुचि थी, और चूँकि वह रुचि अधिकाँश बौद्धिक ही थी अतः इन विषयों से सम्बद्ध पुस्तकें पढ़ कर और दूसरों से इस सम्बन्ध की बातें सुन कर ही समय काटा करता था। विद्यार्थी-जीवन का अन्त हुआ। बीवी-बच्चे घर-बार इत्यादि के मामलों से सामना हुआ, तो फिर ईश्वर की खोज जीवन के मीठे कड़ुवे अनुभवों के समक्ष धीमी पड़ गई। होते होते यह मीठे और कड़ुवे अनुभव इतना ज़ोर पकड़ने लगे कि ख़याल ने फिर पलटा खाया। फिर इस बात की तलाश में पड़ गया कि कोई अमली तरीका (व्यावहारिक-विधि) ऐसा अपनाऊँ जिससे कि मेरा मन इन मीठे और कड़ुवे अनुभवों में लिप्त न हो, क्योंकि जिन अनुभवों को मैं मीठे समझता था, वह भी कड़ुवे ही सिद्ध होने लगे और जब ऐसी सूरत हुई तो जिन्दगी में दुख ही दुख रहा, और उससे निकलने की इच्छा और वह पहले की खोज दोनों ही तेज़ होने लगीं। एक दिन अचानक दैनिक 'हिन्दू' पढ़ रहा था कि उसमें एक पुस्तक *'Reality at dawn'* पर डा० के० सी० वरदाचारी द्वारा लिखी समीक्षा पर नज़र पड़ी। यह समीक्षा बहुत भायी, और मैं पुस्तक के लेखक की ओर आकृष्ट हुआ और शाहजहाँपुर निवासी श्री रामचन्द्र जी की सभी पुस्तकें ध्यान-पूर्वक अध्ययन कीं। मुझे इन पुस्तकों में एक अछूती मौलिकता और एक उच्च प्रकार का स्वतन्त्र चिन्तन मिला; जो तमाम रूढ़ियों और बन्धनों के पार था। दिल चाहा कि लेखक से मिलूँ अतः उनसे पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अत्यन्त सहानुभूति और प्रेम के साथ इस नाचीज़ को सही रास्ते पर लाने की कोशिश की। साधन

की विभिन्न विधियाँ बतलाईं। किन्तु मैं ने अपने को इस सीमा तक ठोस कर लिया था कि साधन के नाम से ही चिढ़ होती थी, क्योंकि मैं इससे पहले कई साधनाओं के विषय में पढ़ चुका था और इस परिणाम पर आ गया था कि यह साधनाएँ मेरे वश का रोग नहीं।

श्रद्धेय 'बाबू जी' की पुस्तकों में एक नई बात *Tansmission* या प्राणाहुति के बारे में भी पढ़ा था और उनसे इसे प्राप्त करने की इच्छा दिन प्रतिदिन ताक़तवर होती जा रही थी। 'बाबू जी' ने मुझे अपने यहाँ बुलाया। मैंने जाने का निश्चय तो कर लिया किन्तु फिर दूसरी खींच तान यह पैदा हो गई कि जब मैंने कुछ साधना ही नहीं की है तो उनके पास जाने से क्या लाभ? जब मुझमें ग्रहण-शक्ति ही नहीं है तो उनकी प्राणाहुति से मुझे क्या लाभ हो सकता है? इसी प्रकार मैं अपने जाने को टालता रहा।

एक दिन अचानक प्रातःकाल पाँच बजे नींद से जागा तो विचित्र प्रकार की ताज़गी *(freshness* अनुभव हुई। ध्यान के लिए बैठा और आधे घन्टे के बाद उठ गया। सोचा तो अनुभव हुआ कि कोई दूसरी ही शक्ति मुझसे यह काम करा रही है। यह घटना आठ दिन तक लगातार घटित हुई। तबियत दिन पर दिन हल्की, और 'बाबू जी' से मिलने की इच्छा दिन प्रतिदिन तेज़ होने लगी। अंततः उनकी पूर्ण कृपा हुई और मैं शाहजहाँपुर गया और उनके साथ लगभग एक सप्ताह रहा। जब वहाँ से लौटा तो संसार में मौलिक-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील विशिष्ट-शक्ति के कार्य का अनुभव होने लगा और *Transmission* का ज़बरदस्त तजुर्बा होने लगा। मैं दीवाना सा हो गया। मई सन ५६ में दुबारा शाहजहांपुर गया। उस समय उन्होंने इस नाचीज़ को अपने फैज़ के *Reservoir* से स्थायी रूप से जोड़कर दूसरों की सहायता करने की आज्ञा प्रदान की।

प्रशिक्षण *(Training)* की आज्ञा प्राप्त होने के बाद भी कुछ अनुभव हुए। अनेक लोग ऐसे मिले जो इतने संकुचित-दृष्टि के थे कि अपनी दृष्टि को थोड़ा भी ऊँचा नहीं कर सकते। हिन्दू लोग बहुधा मूर्ति-पूजक कहे जाते हैं और इसकी प्रतिक्रिया के रूप में अनेक हिन्दू अपने को और अधिक मूर्ति-पूजक बनाते जा रहे हैं। अर्थात *(Spirit)* को खो बैठे हैं और बाह्य चमत्कारों में फंस गए हैं। कुछ

ऐसे व्यक्ति मिले जो बातें तो खूब करते हैं किन्तु व्यावहारिक अनुभव कुछ भी नहीं। कुछ अपने ही अशुद्ध-मन के तमाशों को वास्तविकता समझकर अपने आप को ज्ञानी और महात्मा कहते फिरते हैं। कुछ अन्य, शास्त्र के अनुसार कुछ बातें कहते फिरते हैं किन्तु जो कुछ भी स्वयं को अनुभव हुआ है उस पर उन को खुद श्रद्धा-विश्वास नहीं है। जब पूछा कि फिर क्यों दूसरों को हिदायत करते फिरते हैं तो उत्तर मिला कि 'लोक-संग्रह' के लिए! किन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिले जिनको थोड़ा सा इशारा काफी था, और वे समर्थ गुरू की प्राणाहुति को स्वीकार करके ईश्वरीय—प्रकाश का फ़ैज प्राप्त करने लगे। कुछ महानुभाव इतने काबिल मिले कि एकदम से अपने हृदयों में फ़नाफ़िल्लाह (ब्रह्म-लीन) हो जाने की इच्छा को सबल बनाने लगे और इस प्रकार मालिक की तवज्जह प्राप्त कर ली।

विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते आध्यात्मिकता के क्षेत्र में व्यावहारिक अनुभव करने की मेरी इच्छा रही है और जिन महानुभावों में अन्वेषण (*Research*) की भावना हो उनके साथ मिलकर इस क्षेत्र में क्रियात्मक खोज करने का चाव और लालसा है।

—एक अभ्यासी

❋ अनन्न अपना ❋

(श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी)

जगत में कौन नहीं अपना !

जा के कण-कण 'राम' रम्यो है, कैसे कहूँ सपना ॥ १ ॥
रज—कण से निकला प्रति अंकुर, प्रिय—अनुराग—सना ।
मलयानिल संदेश वहन कर, प्रति पल मुदित मना ॥ २ ॥
सागर की उत्ताल तरंगों में जय—घोष घना ।
अम्बर का आलोक—तिमिर, उस काया का कँपना ॥ ३ ॥
मन, वाणी, चिन्तन—सब की गति—'राम'—नाम जपना ।
मै बावरि जग बीच हिरानी, लखि अनन्त अपना ॥ ४ ॥
प्रकृति, महत इच्छा—वश नाचत नारी—नर—रचना ।
पूरन ब्रह्म 'राम'—अबिनासी, ताहि रमी रसना ॥ ५ ॥

★ अध्यात्म ★

[श्री रामदास चतुर्वेदी, एडवोकेट,]

लखीमपुर—खीरी ।

सुख दो प्रकार के हैं- [१] लौकिक और, [२] पारमार्थिक। वेदों में दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति के लिए विधि-विधान बताये गये हैं किन्तु वास्तविक सुख वही माना गया है, जिस का कभी नाश न हो, और जिस के कारण दुःख, कष्ट, क्लेशादि सदैव के लिए नष्ट हो जायें। इस सुख को आध्यात्मिक सुख भी कह सकते हैं।

'पारमार्थिक' और 'आध्यात्मिक' शब्दों का एक ही अर्थ है। 'आध्यात्मिक' शब्द का अर्थ है 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला'। अँग्रेजी का शब्द '*Spirituality*' एवं फ़ारसी का शब्द 'रूहानियत' इसी के समानार्थी हैं। वास्तव में 'मजहबियत' और 'रूहानियत' में मौलिक अन्तर है। हमारे श्री रामचन्द्र मिशन का सम्बन्ध प्रधानतः रूहानियत से है।

अध्यात्म का ध्येय समझने के लिए हम आत्मा के विषय में विचार करें। आत्मा दो प्रकार की होती है-[१] बद्ध, [२] मुक्त। बद्धात्मा का वर्णन गीता में सुन्दर ढङ्ग से दिया गया है:—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥ १३ । २१ ॥

अर्थः—प्रकृति में ठहरा हुआ पुरुष ही प्रकृति से पैदा हुए गुणों [सत, रज, तम] को भोगता है और गुणों का संग या संयोग उस को भली—बुरी योनियों में जन्म लेने के लिए कारण होता है। (यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ आत्मा है)

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १४ । ५ ॥

अर्थः-हे अर्जुन! प्रकृति से पैदा हुए तीन गुण अर्थात् सतोगुण रजोगुण व तमोगुण नाश-रहित आत्मा को देह में बाँध लेते हैं,

आत्मा तत्वत होता ब्रह्म ही है, किन्तु बन्धन में आ जाने पर जीव या जीवात्मा कहलाने लगता है।

पूज्य 'बाबू जी' ने अपने एक पत्र में बद्धात्मा का अत्यन्त सुन्दर वर्णन दिया था:—

'जीवत्व ने हमें अपनी ऊँची हालत की ख़बर दी यानी ब्रह्म की ख़बर दी, असल में दोनों एक हैं। उस में अनेकता पैदा हो गई, गोया कि सोने का कौआ एक लोहे के पिंजड़े में बन्द हो गया, और अपनी सेरी (तृप्ति) के लिए दाना-पानी का मुहताज (कंगाल) हो। गया अगर किसी ने उसे यह दे दिया कि तुम असल हो तो उस के बाहरी पर्दे फिर टूटने लगे।'

प्रकृति के तीन गुणों से अतीत अर्थात् पृथक हो जाने वाला त्रिगुणातीत आत्मा मुक्तात्मा कहलाता है। मुक्तात्मा का वर्णन गीता के चौदहवें अध्याय में इस प्रकार दिया गया है:—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
सम दुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्म काञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोरतुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

अर्थः—हे पाण्डव ! (सत्व, रज, और तम के क्रमशः परिणाम) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता, और प्राप्त न होने पर इन की इच्छा नहीं करता, जो उदासीन की तरह स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, जो यह मान कर कि गुण ही गुणों से मिलकर अपना काम कर रहे हैं, स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख दुख में समान रहता है, मिट्टी, लोहा और सोना में एक भाव रखता हुआ अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, जो प्रिय और अप्रिय के प्रति और निन्दा और आत्म प्रशंसा के प्रति समभाव रखने वाला धीर है, जो मान अपमान को बराबर समझने वाला और मित्र शत्रु पक्ष को एक सा मानने वाला समस्त आरम्भों का परित्याग कर देने वाला है, वही 'गुणातीत' कहलाता है।

बद्धात्मा और मुक्तात्मा के संबन्ध में महाभारत में भी बताया गया है कि:—

'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः, संयुक्तः प्रकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः' ॥

भावार्थ—जब आत्मा प्रकृति के गुणों से युक्त रहता है अर्थात् जब तक वह स्वयं को उन से बँधा रखता है तब तक उसे 'क्षेत्रज्ञ, अर्थात् 'जीवात्मा' कहते हैं, और वही जब देह-स्थित प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त अथवा पृथक हो जाता है तब उसे 'परमात्मा' कहते हैं। मुसलमान सूफ़ी साहिबान भी फ़रमाते थे कि 'इन्सान अगर ख़ुदी (अहंता) को छोड़ दे तो ख़ुदा तो वह है ही'। मन्सूर को 'अनल्हक़' कहने पर सूली दी गई थी।

यह ब्रह्मसम्बन्धी आध्यात्मिक स्थिति वेद में वर्णित 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति है। जो इस पद तक पहुँच जाता है वह फिर संसार में रहते हुए भी संसारी नहीं होता। वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता, वह सब कुछ भोगते हुये भी कुछ नहीं भोगता, वह जगत् में इस प्रकार रहता है जैसे कमल जल में अथवा मुर्गाबी तालाब में। यह ब्रह्म-ज्ञान की प्रथम श्रेणी है, इस में साधक को लौकिक चिंताएँ नहीं सतातीं; उस में एक प्रकार की मस्ती सी रहती है, स्वतंत्रता सी रहती है, बे-फ़िक्री और ला-परवा हीहोती है, और उस के अन्दर प्रसन्नता रहती है।

इस में सन्देह नहीं कि इस प्रकार का जीवन सभी पसन्द करेंगे। किन्तु प्रश्न उठता है कि इस प्रकार का जीवन प्राप्त करने का उपाय क्या है ? इस का उत्तर असंदिग्ध रूप से यही दिया गया है कि ग्रंथावलोकन और तर्क द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। और आध्यात्मिक साधना का मार्ग उसी प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करने का साधन है। इस मार्ग को अपना कर ऊपर बताया हुआ जीवन प्रत्यक्ष अनुभव करने का प्रयास सभी को करना चाहिए। अँग्रेज़ी की एक कहावत है कि '*The taste of pudding is in eating it* ; अर्थात् खीर का मज़ा उसे खाने में है।

* प्रतीक्षा *

(श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव एम० ए०, लखीमपुर-खीरी)

प्रभु वह दिन कब आयेगा !
मेरे तन का कण-कण तेरा गीत बजाये, गाये गा ?
सकल कामनाएँ जब जल कर
धूप सदृश सौरभ से दें भर
दीप आरती का तेरी, कब आँखों में मुसकाए गा ?
मुख में तेरा मीठा नाम
कानों में तेरा ही गान
हाथ तुम्हारे सब रूपों की सेवा में लग जाये गा ?
साँस तुम्हारा झूला, मोहन !
प्राण तुम्हारा भवन चिरन्तन
किस विधि पावन ! बोलो, कब तक, यह विधान बन पाये गा ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

एक दिन सत्संग के समय किन्हीं सन्यासी जी के विषय में बात चल रही थी कि वे भोजन के समय थाली में जो कुछ आ जाये वह सब एक साथ मिला कर खाते हैं, जिस से स्वाद का पता न चले।

गुरू ने कहा "तब तो ईश्वर ने उन्हें जिह्वा व्यर्थ ही प्रदान की!"

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए गुरू ने बतलाया, "स्वाद का अनुभव क्षीण हो जाना तो एक बीमारी है। वैराग्य का अर्थ स्वाद का क्षय नहीं, किन्तु स्वाद के प्रति आसक्ति और तृष्णा का क्षय है।"

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

एक विशिष्ट योग्यता सम्पन्न जिज्ञासु गुरू के सम्पर्क में काफी समय से था, किन्तु अभ्यास प्रारम्भ करने की ओर प्रवृत्ति नहीं होती थी। एक बार उसने इस का कारण बताया, "जब तक एक बार ईश्वर को देख न लूँ, अभ्यास कैसे प्रारम्भ करूँ!"

गुरू हँस पड़े, "जिसे पाने के लिए अभ्यास करना है, वह यदि पहले ही मिल जाये, तो अभ्यास की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी।"

जिज्ञासु का संशय दूर हो गया।

भावना गम्य गायत्री

(श्री बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' एम० ए०, लखीमपुर-खीरी)

यह लोक भावना का है। भावना ही रस्सी में सर्प का एवम् सीपी में चांदी का रूप प्रत्यक्ष कराती है। अनस्तित्त्व में भी अस्तित्त्व का प्रत्यक्ष कराने वाली यह भावना अस्तित्त्व को भी अपने द्वारा ही बुद्धिगत कराती है। अस्तित्त्व का पता अपने पूर्ण रूप में तभी होता है जब बुद्धि से भावना का योग बैठता है। कोरी बुद्धि का दिया हुआ पदार्थ बहिरङ्ग मात्र होता है, उस का अन्तरङ्ग रूप अछूता ही रह जाता है और उस अन्तरङ्ग का दर्शन कराने वाली भावना है। एक शिशु का बहिरङ्ग केवल उसका भौतिक शरीर और चेतना का समूहमात्र है पर माता की भावना ही उस शिशु को पूर्ण रूप में दिखलाती है। तभी एक डाक्टर किसी शिशु को जैसा समझता है उतना-वैसा समझती हुई भी माता अपनी भावना के योग से जितना—जैसा बना देती है, यही शिशु का पूर्ण रूप है।

हमारे शास्त्रों में इसी लिए भावना पर बल दिया गया है। तोता भी मन्त्र का अभ्यास कर सकता है, दुर्योधन भी कृष्ण से बात कर लिया करता था, रावण ने रामचन्द्र से प्रत्यक्ष बातें कर ली थीं। फिर भी भावना का अभाव होने से ही इन का कहीं मान नहीं। परन्तु मन्त्राभ्यासी मुनि, कृष्ण का दर्शन एक ही बार कर सकने वाली विदुर—पत्नी, राम का दर्शन एक बार ही करने वाली शबरी पवित्र-तम गिने जाते हैं क्योंकि भावना की बरद छाया इन पर थी।

कोई भी मन्त्र भावना से ही हृदय में मूर्त हो उठता है। तांत्रिकों ने उसे शब्द रूप में ही मूर्त कर लेने की प्रक्रिया अपनाई, और आराध्य शब्द रूप में प्रत्यक्ष हो उठा। शब्द अपने आप में अर्थ का बोधक हो कर भी स्वयं बोध्य किंवा आराध्य से एकाकार हो बैठा। मनुष्य यदि व्यापक सत्ता को—ज्योतिमय प्रेरक तत्त्व को, मूर्त कर देखना चाहे तो उस के समक्ष दो ही मार्ग हैं। एक तो वह मन्त्रात्मा देव को मानवीय रूप देकर ध्यान में प्रत्यक्ष कर ले और दूसरा, उसे मन्त्राक्षरों में ही मूर्त हो जाने की भावना करे।

ध्यान द्वारा प्रथम मार्ग ग्रहण किया जाता है और न्यासादि द्वारा द्वितीय मार्ग।

गायत्री—मन्त्र के लिए भी उक्त दोनों मार्गों में भावना की सहायता ली जाती है। जिस 'सविता' देव के प्रकाशमय तेज की धारणा का वरदान लेकर गायत्री मन्त्र अवतीर्ण हुआ उस सविता का रूप तो भावना करने का है ही, परन्तु आराध्य के महत्व से मन्त्र स्वयं आराध्य बन गया है। सविता का मूर्त्त रूप मन्त्राक्षरों द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जाता है, और वे अक्षर भावना द्वारा सविता या जगज्जनक का प्रत्यक्ष कराते हैं। जप के समय अक्षरों का गुप्त उच्चारण करते हुए उन पर इस प्रकार की भावना ध्यानयोग का स्वरूप है। इस प्रकार भावनामय ध्यान सेजप—कर्त्ता अनुभव करने लगता है कि वह स्वयं उस परमार्थ सत्ता के तेज का ध्यान कर रहा है, जिस के द्वारा सभी युक्तियों—अध्यवसायो—दृढ़ निश्चयों को प्रकृष्ट प्रेरणा मिलती है और इस प्रकार साधक तन्मयी भाव प्राप्त कर लेता है। यह तन्मयी भाव वैसा ही है जैसा भृंग से कीट को हो जाता है, और कीट भृंग बन जाता है।

गायत्री मन्त्र का अर्थ ही जस की महिमा का सार है:—"हम सविता देव के उस तेज की धारणा करते हैं जो सर्व श्रेष्ठ है और जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देने में समर्थ है।"

यहाँ सविता, देव, भर्ग, धारणा, वरेण्य, धी और प्रेरणा का अर्थ स्पष्ट करना है। 'सविता' वह सर्वोपरि तत्त्व है जिससे जगत् का प्रसव होता है। अपने बुद्धिस्तर के अनुपात से उस का स्वरूप विविध प्रकार से समझा गया है पर वह अपने वास्तव रूप में अतर्क्य है। उस सविता का दृश्यमान प्रतीक सूर्य है अतः उसे भी सविता माना गया है।

'देव' उसे कहते हैं जो क्रीड़ाशील, सर्वोपरि विराजमान, व्यवहार में आने वाला, प्रकाशमय, स्तुतियों का आधार, आनन्दमय, स्वेच्छातन्त्र हो। वस्तुतः 'सविता' इसीलिए 'देव' कहा गया है कि वही जगत् के रूप में क्रीड़ा करता है, सर्वोपरि तत्त्व है; विभिन्न रूपों और विविध नामों का व्यवहार उसी पर निर्भर है क्योंकि उसी की भास से सब कुछ भासित है, 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू' के अनुसार वही प्रकाशक तत्त्व है, "सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।" के अनुसार वही सभी स्तुतियों का आधार है, वही

एकमात्र आनन्दमय है उसी के आनन्द से सब आनन्दित होते हैं, "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति", वह अपनी इच्छा शक्ति से सब कुछ कर लेता है पर किसी की इच्छा का परतन्त्र नहीं—अब उस का नाम कोई कुछ दे ले।

उसी क्रीड़ाशील सविता के विश्वव्यापी प्रकाश-व्यष्टि चेतनाओं को अनुस्यूत करने वाली अन्तर्यामी सत्ता—को 'भर्ग' कहा गया है। 'भर्ग' में जला देने का भाव निहित है। उस कूटस्थ चेतना के स्तर पर वही एक तत्त्व रह जाता है, अन्य विविध रूप में भासित होने वाले अतत्त्व भस्म हो जाते हैं—अस्तित्व प्रतीति खो देता है।

चूँकि अन्तर्यामी रूप में वह भर्ग सर्वत्र व्याप्त है—जैसा कि कहा है, 'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय', इसलिए 'धारणा करते हैं' इस क्रिया का प्रयोग है। अर्थात् वह सत्ता कहीं बाहर नहीं है हम में ही है, थोड़ा उन्मुख होते ही ध्यान गत हो जाती है।

'वरेण्य' का अर्थ है 'वरण के योग्य'। वह 'भर्ग' इसीलिए वरणीय है कि उस से विशिष्टतर कोई तत्त्व नहीं है।

'धी' का अर्थ 'बुद्धि' है। आजकल बुद्धि का प्रयोग *Reasoning* के अर्थ में प्रचुरता से चल पड़ा है और इस निबन्ध में भी मन्त्रार्थ को छोड़ अन्य प्रसंगों में तर्क या *reason* के ही अर्थ में आया है परन्तु इस का वस्तुगत अर्थ है—अध्यवसाय। अध्यवसाय या दृढ़-निश्चयात्मक अन्तःकरण तत्त्व को प्रेरित करने की क्षमता उसी 'भर्ग' में है।

प्रेरणा देने से अभिप्राय यह है कि सर्वत्र व्याप्त रह कर भी वह 'बुद्धि' अनुद्बुद्ध रह कर निष्क्रिय हो सकती है। उस अन्तर्यामी तत्त्व में यह सामर्थ्य है कि ध्यानगत हो कर—धारणा में आ कर, तुरन्त 'धी' को प्रेरणा दे सकता है। अन्तिम क्रियापद शक्तता एवं योग्यता के अर्थ में ही उचित है, आज्ञा वाले अर्थ में नहीं। प्रार्थना का भाव भी गौण हो गया है क्योंकि यह क्रिया विशेषण उपवाक्य में आया है। प्रधानतः धारणा करने की क्रिया ही—जो वर्तमानकाल में है—मन्त्र में मेरुदण्ड का काम करती है।

❋ अपनी झलक ❋

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'संध्या', लखीमपुर-खीरी)

अंतर पट झीना रे, माई !
बाहर-भीतर सब कछु झलकत, त्रिभुवन दीठि समाई ।
घूँघट भीतर समुझि न आवत, आपनु मुख दरसाई ॥१॥
सुमिरन अंगराग बनि बैठो, सुरति को नाँव डुबाई ।
बिन रेखन को चित्र अनूपम, कहि न परत समुझाई ॥२॥
बिनु पात्रन को खेल रच्यो है, बिरलो ताहि बुझाई ।
'संध्या' बावरि प्रभु मग हेरत, 'राम'-नाम गुन गाई ॥३॥

॥ प्रार्थना ॥

यस्माद्विश्वमुदेति यत्र रमते यस्मिन्पुनर्लीयते,
भासा यस्य जगद्विभाति सहजानन्दोज्जवलं यन्महः ।
शान्तं शाश्वतमक्रियं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं,
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम् ।

अर्थः—जिस से विश्व उत्पन्न होता है, जहां स्थिर रहता है, जिस में फिर विलीन हो जाता है, जिस का तेज जगत् को आलोकित करता है; जिस का महत् सहज आनन्द से दीप्त है, जो शान्त पुरातन, अकर्मा और समस्त सृष्टि का ईश्वर है, जिसे सुकृती जन द्वैत के मालिन्य को दूर कर के प्राप्त करते हैं, उस पुरुष की वन्दना (हम) मोक्ष प्राप्ति के निमित्त करते हैं ।

EASIEST WAY TO GOD REALIZATION

(The message delivered by the president at the annual function of Gulbarga branch of Shri Ram Chanra Mission on 15-12-57)

Dear ones,

It is owing to my profound attachment with humanity that I lay down the feelings of my heart to be bubbled up into the hearts of my fellow beings, the very part and parcel of my own being, in order to make every heart over-flooded with peace and bliss. My heart remains connected with you all, here and elsewhere, giving impulse in unbroken silence to effect the hearts naturally in due course. But for the speedy progress it becomes rather incumbent upon every living soul to wake up to his spiritual needs for the realisation of the Ultimate.

We belong to the country where realigious spirit has ever been flowing in one or the other form. Diverse means are adopted for the purpose of gaining the object of life. They may be correct if the heart is connected with it in the real sense, so as to be absorbed in the essence of real life. We are bred to have union with Reality, we have emerged from. We have brought with us the very essence of Infinity and we should try to keep close to it, in order to give freedom to our thought for absorption in the Infinite. If we neglect it we remain bound to activity of thought and not the Reality at the root, which is limitless. The hymns and payers offered generally result in flattery when one is dumb to the

real spirit of the essential character.

The great teachers have always been actively speculating to devise means and methods of higher approach, though the solution is quite at hand. Really the path nearest to yourself is the path nearest to God. My revered master Samarth Guru Mahatma RamChandraJi Maharaj of Fatehgarh has rendered wonderful serviceto humanity in thisrespect by peovid-ing the easiest means of gaining the object of life. His methods are so easy that their very easiness has become a veil for common understanding. Simple and subtle means are needed for the realisation of the subtlest Being. Realisation has been represented as a very difficult and complicated job. This offers great discouragement to people who are thereby scared away from it Such ideas should be banished from the mind, for they weaken the will which is the only instrument to help us in our onward march.

On the basis of my personal experience I suggest a simple process which can be followed by all quite easily. If one can sell his heart i. e. make a gift of it to the divine Master, hardly anything more remains to be done. This shall naturally bring him to the state of absorbancy in the Infinite Reality. The adoption of this easy and simple technique makes the beginning of the process the very end of it. The impulse begins to flow in automatically transforming the entire being of an individual What else except a tiny heart can be the fittest offering for the achievement of the dearest object of life ?

One thing more, to effect the surender of heart in the easiest way, only an act of will is required. But the lighter and finer the will, the more effective

shall be its working, An act of will lying in the form of a seed of an insignificant volume in the deeper cores of consciousness, shall soon develop into a full-fledged tree stretching its branches all over.

Finally the adoption of the method is sure to bring in an attitude of renunciation from the very first day. A courageous start is all that is needed for the purpose. May the true seeker see the light and wake up to the call of his real Self.

I close with a prayer for the inner awakening of all living beings to the real life Amen.

Sd .*Ram Chandra*
President

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

A self Conceited beginner of the Yogic Sadhana one day asked the Master, 'When Swami Vivekanand met Shri-Ram Krishna Paramhansa for the first time, he experienced immediately a sort of a transformation being started in him Why am I unable to experience something of the same sort on coming into contact with you ?'

The Master smiled,"Well, the reason is obvious. While you are a Swami Vivekanand I am not a Ram Krishna Paramhansa."

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

Explaining the efficacy of absolute Self-surrender as a means of spiritual progress, the Master one day gave out a method adopted by himself, "When unwelcome thoughts arose. I just supposed them to be those of my Master. And they were off."

Aghast with surprise, an abhyasi exclaimed, 'Will it not be an act of gross disrespect to assign ones own nasty thoughts to the Master ?"

The Master explained, "Only if you assign your good thoughts to your self."

Spiritualism and the modern world

(*Shri Suresh Chandra Shrivastava, M. A. Lakhimpur-Kheri*)

"Look" pointed one, and several eyes were fixed at a luminous object moving along the dark trees silhouetted against the waning blue of the night. The hearts throbbed with awe and wonder. 'What a piece of work is man !'

But others viewed it with despair. Jealousy and suspicion smote their hearts Their reputation was at stake.

And common man remained as he was.

That is, briefly, the whole story of the greatest achievement of man when he is trying to come at par with the Creator. But soon people stumbled upon the truth. "Where is happiness?"-asked some-"Does this master-achievement bring any peace and consolation to suffering man kind ? Does it better the conditions of man ?" And the questions echoed and reechoed in the void, but no answer came,

And then from the Land of Sages, there came a voice "Spiritualism ! It is spiritualism which will pour oil on the troubled waters of human life. It is spiritualism and spiritualism alone which, will bring kingdom of heaven on this earth. Therefore awake, arise and stop not till the goal is achieved"—This cry went up against the sky and unmixed with the smoky gloom rang in all corners of the world. People

realised that it is not in the Golden Halls of mammon that Peace dwells. Her shrine is the humble cottage of human spirit, her glory is the glory of simple heart.

Hence, without knowing the essence of spiritualism masses of fashionable people joined the real advocates of spiritualism and consequently their multitudinous voices drowned the genuine melody of spiritualism. To take up the cause of spiritualism and claim to be spiritualist-has become the fashion of the day with the worshippers of mammon, who cannot spare even a single moment from their mint activities for the uplift of their own soul. Seated in a luxurious chair, they would talk with an air of all gravity round themselves. "Spiritualism"—they would say with a nod—"that is the only cure for the evils of man kind to day"—and then look around to meet an accepting eye. But at the slightest suggestion of following any practical method of spiritulism these 'lords of human kind' become all courtesy and politenss and apologise "I'm afraid, I am very busy, you see"—And that is the be all and end all of their spiritualism. The most popular place for serious dis-cussions on prevailing 'isms' is the Coffee House where young Bobajdlis declare out right that Spiritualism is the topic for the defeatists whose youth deserted them. Youth to them is the high time to sow wild oates and burn fingers to be repented over in advanced age sn the vocabulary of spiritualism.

That is the spiritualism for fashion. Then,

where does the truth lie ? Real spiritualism lies in eternal human values and the gradual refinement of our 'self' to the extent that it harmonises and blends with that "whose dwelling is the light of setting suns and mind of man" Can we know that ? Impossible. That is too enormous to be caught in the dwarf hands of human intellect. We can simply 'stand on the shore and hear the mighty waters rolling ever more.' After all our endeavours we will have to exclaim 'what thou art we know not ? what is most like thee ?' But there is no peace everlasting unless we merge ourselves in that One which remains while many change and pass. That one can not be bound by words and epithets which are tools of communication and understanding of human ideas and feelings. It is too deep for words. Absorbing all limitations and contradictions it broods over eternity and infinity like sun on the planets. It is impossible to have that in limited definitions mirror can not reflect the entire glory of sun sat, chit and Anand or Hellenic approach in the true, the Good and the Beautiful, unsuccessfully try to qualify that which is above all qualifications. They fail to bring about the mystery and awe-the Archfear—which, with their majestic awfulness inspire fire to burn, sun to shine and air to blow in all directions. Words-the symbols of ideas and feelings, faint and fail before that. Unless we dissolve ourselves in that subtlest of the subtle, Smallest of the small we can not rise unto his eminence, sung as Greater than

Greatest. It is here that prefect Bliss dwells, Bliss which no whirlwind of misfortunes can shake, which no chreatening clouds of gloom car rain out. Rising above narrow interests we can view the entire creation as one unit and all the mysteries of universe would reveal themselves unto us. Only then the jarring notes of conflicting self interests would melt into sweet melody of joy and Beanty unaffected by dark miseries of a moment. The saddest thought will be the source of sweetness when it will beat in tune with that mighty harmony of absolute. And deliverance will come itself.

Our ancient sears termed it as sreyas, the only desirable in life. Blessed was Nachiketa who insisted upon having that which is the source of life and before which death trembles like a guilty thing surprised.' Blessed in the man who thanks to the active conscience put is him:-can successfully strive to make himself purer and purer to that point of fineness where the roaring mechanism of creation ceases to exist with all its lemitations, where there is a big No to every supposition, where there is the infinite and eternal circle of Nothingness. It is only the prerogative of man as no other species of life on earth car emancipate itself from the excruciating agonies of recurrent life and death. It is man alone who can rise to breathe the finest air of eternal freedom. Only then the narrow boundaries of caste and creed fall off like leaves jn autumn and man can face his brother in the naked light of truth. Love would be the only relation breathing between them.

And where science would lead us to ? It is worng to imagine that it would lead to catastrophe

being a faculty to promote material welfare and produce bones of contention. Political imperialism has given way to economic imperialism based on greed and vain glory. Science is the manifestation of the supreme faculty to know, to understand. 'Analyse and arrive at the truth boldly'—is the motto of all sciences. Chemistry aims at discovering the eternal element; mathematics and physics are also trying to reveal the working of the cosmic mechanism. Man is passing from power to power, still the mystery eludes his grasp. Matter irradiates spirit but it is hard to localise that spirit at any particular point. Truely speaking, science takes us to the borderland of knowledge, wherefrom we can have glimpses of the abysmal mysteries, inaccessible to a novice but homeland to a person who has learnt to dwell in the fairy kingdom of spirit. Climbing the stairs of reason the human spirit can, through persistent endearvours, soar in the land of beatitude.

Spirit governs matter. Hence the better is the control, the better would be the uses of matter. Matter exists for the development of spirit into final liberation from bondages of misery and for the consequent balanced man. This gradual purgation of grossness from human sensibilities, not the unlimited accumulation of material luxury should be the object of human endeavours. All social sciences should elucidate the position of man, how he has to work smoothly in the social or world structure, harmonising personal development with that of others.

In the present maze of numerous sects and religions, it is difficult to arrive at the genuine spiritualism. It is, however, not to be confused with

'religion' of common parlance. Religion may be a step in the ladder of human development but it can not lead us to that stage of Nothingness which is 'seen with wonder, bespoken with wonder and with wonder listened to.' Dogmas and duties keep us whirling along the incessant chain of life and death and then degenerate into dead customs, traditions and superstitions which lay heavy on the heart of mankind. Close adherence to the precepts of religion may subdue the beast in man, but it fails to bring the ultimate deliverance. It is an obvious fact that religion, bereft of spiritualism, has proved to be the cause of enormous bloodshed. One has, therefore, to be careful to sift the narrow interests of religion from the real seeds of spiritualism. People are easily lead to believe the sham, the ostenatious to be the genuine glitter of spiritualism. Bhakti, Gyan, Yoga—all are welcome so far as they lead human spirit to finer strata of consciouness splitting the numerous veils of grossness. But attempts to confine the real aspirations in the stone walls of narrow interests of creeds and sects has always proved suicidal to the very spirit of religion.

In modern world, therefore, if we focuss our attention on our heart instead of the whizzing sputniks in the void, a great amelioration in the conditions of man can be effected. This power mania can be cured only when people thirst for that which is the source of all satisfactions and which drowns the narrow limitations of man in the surging tide of love. To day it is to be declared from the house tops that gold may bring more gold, power more power but peace would still be a dream if man does not

care for his 'self'. Search for Eldorado would not bring about souls that would sympathise with each other; they would gladly play cutthroats, instead. Let us, therefore, from darkness of our self interest more towards the eternal light of spiritua ism and only then:—

"Serene will be our days and bright
And happy will our nature be"

An abhyasi experienced the condition of thoughtlessness for a while, and requested the Master to let him remain permanently in that state of mind.

The Master advised, "Please do not regard thoughts as evil. Even nasty thoughts are a means of the purging out of saniskaras. Wait till the permanent state of thoughtlessness comes in the natural way after complete cleaning of the mind."

He further added, "If the ultimate goal is not kept in view, one may make the problem of progress more difficult."

QUEST FOR REALITY

(Shri Ishwar Sahai Lakhimpur-Kheri)

This is a subject on which the ancient sages have expressed a lot according to their practical experience, which exists in the form of books. Never-the-less the problem still remains a mystery to most of us. The reason is that we think it all and enough, to know about those practical experiences through their writings and do not try to have a practical view of them. Some stick to the view that so long as we do not know what God is we can not have a practical view of him, and this knowledge can be gained only through books. Hence the study of books is essential. This is something very strange. To understand a thing before observation is like knowing what sweetness is before tasting it. It means that you frame a mental picture of it on the basis of your bookish knowledge. Now whatever comes to view shall be the reflection of your own imagination. If your thought has taken a wrong course the vision too shall consequently be faulty. Hence, for the sake of practical experience it is wrong to start with a presupposed view of Reality which we finally aim at. We have to realise It just as It is. Therefore mental speculations are not only useless but also harmful. Theoretical knowledge based on books can not help you in realisation. On the other hand it will lead you to verbal jugglary and vain argumentations.

In fact thirst for Reality is a natural instinct,

may be in latent state in most cases. A man may or may not be conscious of it. The reason is that the real essence which is present in every being, keeps on attracting it. But we do not feel its force because of the innumerable layers of grossness covering us all over. We are told that God exists and it seems probable too when we see the whole universe in existence before our eyes. Thus we come to the conclusion that there is some Energy at the bottom which is its Creator and Preserver. This leads us to believe in the existence of God and we start worshipping Him as a great Master who is All-pervading and Omni-potent. But so far it is all oral and verbal. Such a belief can not be taken as real faith. We do not feel any relation with Him in all our daily life A man may just say that God is all in all and he is the real doer, but in fact rarely does anyone realise it in true sense. Everyone is busy with his own activities. He has no time to devote to these idle thoughts. Some take Him to be quite a superfluous item in their life. They consider themselves alone to be the real master attributing every success to their own credit, though some times in cases of failure they lay the blame on Him saying that He did not like it. Swami Vivekanand has rightly remarked "A man has no right to say that there is God unless he realises It". Thus it goes to show that so long as we are not in touch with that great Power it, would be of no worth to say that we believe in God. We have, therefore, to adopt means which may enable us

to get in touch with that Eternal Power. For this we generally look to religion which is defined as a path leading up to God.

Now a word about religion. All belive in the unity of God, but religions are numerous. If we take religion as a path to God. that means there are so many paths leading to a common centre. But the advocate of every religion affirms that his is the only right path. Now it becomes difficult to decide which is really so. Besides, this view too does not seem convincing on the grounds that every religion has its own centre. Some take It in the form of gods and goddesses, others represent Him as a comparatively higher form of human being with more hands and heads than an ordinary man possesses. Still others who take finer views, clad Him in finer robes. In short everyone has put Him up in a distinctly different form as an object of worship. When this is the case the central point of all the religions can not be taken to be the same. Hence it would be wrong to say that every religion leads to a common centre. If we take a closer view, we find every religion based on certain divine laws which are common. So far there is distinction between them. But in order to establish the individual existence of a religion it becomes essential to in troduce in it certain fromalities, superstitions and prejudices, so as to give it an outer covering in the form of formidable barriers. This is in fact the true picture of religion which we witness every where in the world today. Now if we abolish

these barriers of formalities and prejudices which enclose a religion, its very existence becomes extinct. Imagine gentlemen how far can a religion enclosed within a barrier, of prejudices help us to reach God. It is, therefore necessary that for our march along the right path we must come out of this sphere of superstition and prejudice and set our foot on the path of spirituality which is common for everyone. This is the only path which can lead us upto the goal, though religion may help us to some extent to trace out the path, which lies beyond the limits of religion.

What is spirituality ? There are numerous misunderstandings prevailing among the people regarding the true sense of spirituality. Generally every thing connected with religion is taken as spirituality. To abide by the principles of religion, observing set forms of worship, practice of Yogic Asans, feats of Pranayama, are all thought to be related with spirituality. Not only this even the use of thought power is misepresented as spiritual attainment. Thus ordinary feats of jugglary and petty miracles e. g. creating material effect by means of will power. curing diseases by hypnotism or inexplicable actions of ghosts and spirits are all regarded as spiritualism. Thus like religion spirituality too has become a mystery which has greatly confused the people and kept them away from the right path. This is due to the verbose preachings of unpractical teachers who infuse into us mere bookish knowledge and do not allow us to breathe in the lighter air of practicality. Really spirituality is quite a different thing. It has no relation with religion

which is, as stated above, only a collection of beliefs and superstitions which keep us bound fast to prejudices, whereas spirituality refers to those noble experiences and attainments which help us in our march to the goal. It is a practical science which is free from all kinds of limitations and prejudices. To quote the words of our Master from his book "Reality at Dawn"- "In fact spirituality begins where religion ends. Religion isonly a preliminary stage for preparing a man for his march on the path of freedom. When he has set his foot on the path, he is then beyond the limits of religion." Spirituality is quite a simple thing. We are surrounded by materialism but if our thirst for Reality is earnest we shall naturally be inclined to trace out means of realisation. Now what is Reality ? It is that which lies at the root of matter. It can be nothing but the finest state of subtleness. Thus all that we have to do is to get out of this sphere of grossness and attain the superfinest state of subtleness which is beyond every thing. Our march from this grossest state to extreme subtleness is the essence of spirituality and the realisation in true sense.

The popular meaning of 'realisation' is some thing quite different. Generally we take God to be a beautiful and attractive object and our purpose in realising Him is only to get into the sphere of happiness and pleasure. It is just like this. A child being attracted by some beautiful toy wants to have it for his joy and recreation. Really God is not the object of recreation just

as the toy is to the child.Besides, if we take Him in that sense, it becomes necessary to take a material view of Him in order to fix our eyes upon. That means we put on a material covering round the subtlest object. With this conception in view we remain enclosed within the sphere of grossness and our spjriual march in true sense has not even commenced as yet, and all that we do by way of worship is for the sake of recreation and not for realisation. Thus realisation is still a far off thing. If we take Him into view as the Creator and Preserver of the world which is the final goal of almost all religions, even then we are still within the sphere of grossness, for in fact that too is a grosser view of the Absolute. Hence the quest for Reality still remains pending. When this is the case what purpose can be served by worshipping Him in this respect.

If some body is asked as to why he worships at all, he finds it hard to answer. The reason is that he does not start with any definite object in view, nor does he even think over the question. Whatever he does is only in pursuance of certain age—old customs If some one ventures to answer more appropriately he would only say that God has created us and provided us with means of livelihood; so we must be greateful to Him and worship Him. But at the same time they say that the world is a prison-h use where a man comes for under going the effects of Sanskars. As such our position in the world is like that of a convict. Now who among the c ass of prisoners would ever feel grateful to him who has sent him to jail ? As for providing means of livelihood, he who likes to keep us in imprisonment would

naturally look to our bare needs, not minding whether we are thankful to him or not. Thus, if we worship him in this respect our worship does not carry any sense. Some interpret it in a different way. They say that we worship Him in order to please Him, so that He might save us from pain and sorrow, and grant us a life of rest and peace. This is of course something, for to be relieved of pain and sorrow is a natural instinct. Hence it is not quite out of place. But at the same time we know and believe that the world is the home of sorrow and it is impossible to be free from it so long as we live in it. Besides if we are some how or other relieved of pain and sorrow the Bhoga for which we have come to the world becomes ineffective. Hence pain and sorrow are indispensable in life and none is free from it. It is impossible and against the law of nature. Pain and pleasure follow each other in succession. Hence worship for the sake of saving ourselves from pain has no sense. This is in other words only flattery for the sake of things pleasing to us. Flattery is always void of true love and devotion. Such is the picture of devotion we commonly witness today.

What can then be our object in worshipping Him, ? It is not difficult to understand. Freedom from pain and sorrow is a natural desire, but for that if we fix our eyes on those passing events of life which are necessary for Bhoga, it is but a blunder on our part. For this we have to take into account the very root cause of the evil, which if wiped off, will save us from

pain and sorrow. The cause of pain as all probably know is our physical existence in the world. Hence we come to the conclusion that if we are able to put an end to the process of rebirth the problem of pain and sorrow is solved automatically. Thus what we have primarily to achieve is freedom from rebirth which should be the priliminary object of worship.

How this can be achieved ? The process is very simple. We should do away with the causes which have brought about our rebirth. The causes as all know are only our Sanskars, which if exhausted end our rebirths. We do the same all our life and exhaust the past Samskars by undergoing their effects. But at the same time unfortunately we go on forming new Sanskars also which finally become the cause of our next birth. Thus we go on through the endless cycle of birth and death. All that we have to do now is to end the possibility of rebirth by stopping the formation of new Sanskars. When this is achieved and the formation of new Sanskars is stopped there remain only the effect of the past Sanskars to be undergone which we do till the end of our life. This brings us to the point of liberation which is the end of all our pain and sorrow. Now the question comes in as to how is it possible to stop the formation of Sanskars when our physical and mental action continues every moment and can not be stopped in view of the daily requirements of our life. It does not mean that the formation of Sanskars can be stopped when our limbs cease working i. e. if eyes stop seeing, ears cease hearing and the legs give up walking. Had it been so, perhaps the blind, the deaf and the lame would not be forming Sanskars in this

respect. But it is never so. The fact is that our actions which come into effect through the medium of heart and brain form Sanskars. Such actions create their effect upon the mind for which Bhog becomes inevitable. On the other hand if our limbs set to work like the different parts of the machine which have no choice of their own then the question of Sanskars comes to an end. If the limbs go on with their particular work according to the need of the time without affecting the mind in any way the action shall create no Sanskar For example, a man sleeping soundly is stung by a mosquito, his hand goes up to that part of the body automatically and begins to scratch it. But the sleeper remains quite unaware of it. The action has come into effect but in a way that it is free from the combination of any thought. It happened quite automatically. The limbs acted like the parts of a machine and no impression was produced on the mind. Such an action forms no Sanskar. Our daily actions in life, if performed in this mannar will produce no effect upon the mind and consequently the formation of Sanskars will end.

Now the question again arises how can it be practically possible to keep our actions free from the effect of heart or brain. I think it is certainly and definitely possible, if one adopts the proper means. Every action that we perform is motivated at bottom by the idea that it is our action and we are its real doers. Thus we take on ourselves the responsibility of it and get engrossed in it

Its effect upon the heart leads to the formation of a Sanskar, by creating an impression upon the causal body. They remain there till the completion of Bhoga. For avoiding these impressions we have only to get rid of the idea of self as the doer. When we do not think ourselves to be the actual doer, our responsibility ends and the mind remains free from the effect, leaving no room for Sanskar. Actions coming into effect in this way will have the form of obedience of order or the discharge of duty without any personal choice in the matter. This can be practised in the following manner. We may consider every work to be God's work and He alone as the real doer, who like Master acts through the medinm of our body just as a carpenter does through his tools. This can be applied in all our daily actions in respect of earning livelihood, maintence of self and dependents and for providing all requirements of life, which are our primary duties and which keep us bound in the trammels of Maya and Moha. On the other hand if we treat our children as the children of God and every work to be His, applying ourselves only to the discharge of the duty, our mind will naturally be free from the effect and the formation of Sanskars will ceasea. How easy it is; only slight diversion of thought is required for the achievement of success. This will also free us from the entanglements of Maya and Moh and bring us in our very worldly life to the state of Vairagya, which is essential for our spiritual endeavour.

We are thus free from the limitations of Sanskars but it is only a preliminary stage of our spiritual march. Reality is still far off. There are numerous coverings yet to be crossed over. The finer coverings

of Maya in its pure state are still there. Though they are considerably finer, yet when compared with Reality they are far grosser still. However they go on growing finer till we come to the level where we are almost free to a greater extent from its material effect. Our journey through the Heart Region is now crossed. Still the Goal is far ahead. We now pass through the various states of Ahankar, which go on growing finer. The cruder forms of Ahankar have been crossed over during the previous region. Now we have to deal with its finer and purer states. Though we are not comletely free from it till the very end, so as to maintain a nominal difference between Jiwa and Brahm. However, what remains now is in the form of mere Identity. In this finest state we enter the Central Region, where we begin to breathe in the fragrance of Reality. We go on still. How far ? There is no limit. We are now swimming in the Infinite. There is no end. Subtleness goes on developing, and gradually we begin to get attached to the finest state nearest to Reality, presenting a view of Nothing-ness. To get merged in this purest state upto the greatest possible extent may be regarded as the highest point of human approach. What is beyond, He alone may know.

The Science of the Ultimate or the essence of Indian philosophy

(*S. P. Shrivastava Lakhimpur-Kheri*)

Every people have some distinguishing feature of their own. The Indians have it in their philosophy. They are known, loved and respected all over the world for their philosophy.

For the Indian, however, philosophy is not a mere intellectual pursuit after the Ultimate Reality, as it has been in the west. To him it starts with a longing for the actual direct experience of the Ultimate Truth, and finds its culmination in the fulfilment of the longing, i. e. an actual realization of the Ultimate. Consequently, the Indian philosopher's method too has differed from that of the western philosophers. In the west a distinction has been drawn between the reflective method of philosphy and the empirical method of the Sciences. If this crude distinction be retained, the Indian philosopher's search after the Ultimate may well be called a science rather than a philosophy. The experiences, however, do not remain confined to the sesations alone, which after all can give us knowledge of the relative and not the Ultimate nature of Truth and Existence. The method, however, is essentially practical; and a mere attempt to approhend it intellectually may result in ridiculous distortions of it, as in the case of a

person who tries to understand the taste of an apple or lemon without ever putting it on his tongue. Such distortions of the basic experiences of the great masters by the common people from time to time have necessitated restatements of the nature of Ultimate Reality again and again by the capable masters who have experienced It directly. Put forth under different social and moral contexts, these statements of the Supreme experiences, very often. appear confiicting and contradictory to those who try to apprehend them through reason, since the rational criterion of truth is non contradiction, but the ultimate nature of Truth does not admit of any such barriers. Thus through out the history of Indian philosophy we may find the repeated assertion of the one Ultimate Truth against Its distortions by the laity. Some attempt to describe that great achievement of Indian masters may be made here. But it should always be borne in mind that the real under—standing of Truth is essentially a matter of direct experience under the guidance of a capable master.

To start with, generally the search after Ultimate nature of ones own 'self' is taken up. 'Experience' is a fact about which there can be no scepticism, for doubt itself is an experience. In the realm of experience the distinction between the 'subject' and the 'object' of experience too can not be denied. The 'subject' viz. the 'self' is obviously apart from the stimuli of experience, for it knows and controls them. The

scienctist, the novelist, the poet, the politician—all are one as regards the singing of the glory of the indomitable 'spirit' of man, before which the Everest must bow, the ocean must yield its pearls. What is this 'spirit' of man ? Obviously it has to be distinguished from all that it tries and succeeds to know and to control. In this sense it is to be distinguished not only from the rock and the ocean. but also from the human body, the emotions and other activities of the mind, the intelligence and character, and even personality, as defined in modern Psychology. All these are attempted to be known and controlled by that indomitable 'spirit' of man; all these are simply possessions of the 'self' and not the 'self' itself; they are 'mine' but not 'I'. Ordinarily the possessions and extensions of the 'Self' are mistaken for the 'Self'. They are no doubt parts and aspects of the 'Self' but not the 'Self' in the ultimate sense, in search of which we have started. In other words these possessions and extensions are the innumerable concentric circumferences encircling the 'centre' which is the 'self' in the ultimate sense. Hence this process of self realization has variously been described as a march towords the 'centre'; a casting away of the coverings that surround the 'self'; an anti-clockwise movement; a process of death in life.

After all the coverings which might be mistaken for real nature of the 'self' have been cast away, the 'self' is directly experienced as a vacant nothing. It can not be described in terms of any other experience. The expression 'vacant nothing' itself is a crude one, and has been used only to connote a total negation of all that is possible to be

communicated to one who has not experienced it himself. Yet this 'vacant nothing' is not something negative. It is experienced as a reservoir of all imaginable energy. This should not appear absurd and inconceivable in this atomic era of Physics. After all, the spirit of man has the potentiality of enslaving the wildest forces in existence through knowledge alone. So there can be little wonder about the knowledge of the Ultimate nature of the 'self' as a potential reservoir of every conceivable energy. At various stages of this march towords the 'Centre' the seeker after the Ultimate comes to acquire various miraculous powers, against whose exercise he is warned by the capable master, as they may mislead him away from the goal.

However, this process of realizing the Ultimate nature of self presents a serious danger of egoism. That 'vacant nothing' which is the reservoir of all energy is still experienced as 'I' a closed identity (entity). Really speaking this is the last covering round the ultimate nature of the 'self'. This is, doubtless, a very hard nut to crack. The casting aside of this covering becomes difficult also due to the emphasis laid on 'know thyself' from the very start. Due to this same distortion, by the common people, of the Vedic principle of Self-realization which had been misinterpreted as recommending the sacrifice of anything in the universe at the altar of the advancement of the self, Lord Buddha had to go so far as to deny any permanent continuity of the 'self' and add for the benefit of his more enlightened disciples that his knowledge of Truth was not exhausted by his words.

Thus the experience of the Ultimate Reality in its naked form comes with the casting aside of the covering of egoism. Now every single atom of the Universe appears to be vibrating with the same tremendous reservoir of energy that has been experienced as my own ultimate nature. The wild winds, the reging oceans, the proud mountains, the distant stars, the luminous sun and moon, the ferocious animal kingdom, the tender greenery of the vegetable world, the vast variety of intelligent human society—all that exists within or beyond experience appears to be a tbottom a mere extension of that same 'Vacant nothing' or the reservoir of ali energy, which is the 'Self'. There remains no duality between the Self and the Universe, between the 'subject' and the 'object' of knowledge, when the covering of egoism has been penetrated through. Kabir has beautifully described this experience with the help of the simile of a jar dipped in an ocean. So long as the jar exists, the water inside the jar has an entity apart from that outside it; once the jar is broken the duality and distinction ceases to exist. This stage may well be described as aTotal negation of 'self' or as swimming in the central region. Most of the masters have regarded it as the final experience of Ultimate Reality. But a few of the highest calibre among them have dis—covered that far from being the end of the journey, it is just an entrance in tne region of the Centre, and a great deal remains beyond. There is, however, no doubt that it is almost impossible

for a living person to taste those experiences; or if that be possible in case of a rare personality, to express them in any terms.

These experiences, it may be asserted at the cost of repetition, are not merely intellectual convictions or imaginary constructions, satisfying any repressed urges. They are quite real phenomena and require to be studied seriously by the most intelligent scientists of our time, particularly the psychologists. There is nothing illusory about them. Ordinarily every body experiences three stages of consciousness—the waking, the dreaming and the deep sleep. The last one is a very real experience of a sort of vacancy. Most of the normal functions of the waking consciousness are dropped, yet the experience of a peculiar indescribable pleasantness remains. This state of a partial death, while the body does not disintegrate, brings a sort of freshness and vitality which is so essential for the proper functioning of life. The process of the realization of the Ultimate reality narrated briefly above is a further progress on the path of the experience of death while the body does not disintegrate. It does not make the seeker after the Ultimate an impractical man or a recluse. Imposters apart, a person really progressing on this path finds himself becoming more and more efficient in the automatic performance of his duties in life. This need not be over-emphasized as it is every body's experience that his performance is far superior when he is forgetful of his own self during the

activity. The process, narrated above, again, is not a mere ritual to be performed at fixed hours like the so-called religious practices prevalent everywhere in our society. It rather influences the whole trend of an individual's life. At each step he finds a transformation going on in his total character. The transformation is essentially incremental and beneficial. To all this it may, however, be added that there are certainly grave dangers of hypocricy, egoism, self-deception etc. at almost every step in this journey, particularly when modern science still leaves these phenomena of experience to the realm of the occult and mysticism.

This, in a nutshell, is the essence of Indian philosophy. All glory to the person who should have laid the foundation of this supreme science of the Ultimate. In order to understand it, both the experience and reason of the western philosophy are to be transcended. It can be learnt only through a direct contact with a master, who himself has gone through the various experiences, and reached a high level on the ladder of the knowledge of the Ultimate. The importance of this science in the present castastrophic stage of human civilization is obvious. Theoretically speaking, the scientist of today must accept the challenge of facts and be bold enough to go beyond his methodological grooves, many of which stand already shattered in this nuclear age of physics. From the practical point of view the dilemma of destruction facing humanity demands that a coordination

must be developed between man's knowledge of nature and that of himself. May the conscientious and intelligent guardians of human culture and existence rise up to the occasion and be prepared to derive strength from the great saviours of humanity that have not been confined to any particular place or time, but whose priceless experiences have been presented in a very well organized form in the history of Indian philosophy.

In the end the difficulty of finding a capable guide is also to be recognized. The great masters have, however, assured that a true seeker, who has a sincere longing for the Ultimate, must find a guide. The ultimate Truth, they assert, is impatient to reveal Itself to the real seeker. The sincere student may, however, keep the following words of one of the greatest masters before him in his search after a capable teacher: —

"There are such men in India who can very easily guide you to the destination, so near and dear to us. But the selection you will have to make yourself, for which I give you a few words to guide you in the search. Where you find the idea of service with no selfish motive of the guide, ther the thing rests. One more thing to consider is that one who can foment you with the internal divine power to make your task easy is the capable hand for the divine knowledge."—(extract from a message of the President, Shri Ram Chandra Mission.)

There may still be a danger of making a wrong choice. In that case again the following words of the same master may be kept in view:—"I hold it to be

the birth-right of every man to break off from his Guru at any time if he finds that he had made a wrong selection or had misjudged the Guru's capacity or worth. He is also free to seek another Guru if at any stage he finds that his Guru has not the capacity to take him beyond what he has already acquired." (Shri Ram Chandra Ji : Reality at Dawn: Page 57)

Thus there is not to be found any religious dogmatism or mystification about the experiences narrated above. It is really unfortunate that this field of scientific research should have remained despised or ignored by the scientists.

SONG OF THE FREE

Nor angel I, nor man nor brute.
Nor body, mind, nor he nor she;
The books do stop in wonder mute
To tell my nature:- I am He !

Before the sun, the moon, the earth
Before the stars or comets free
Before e'en Time has had its birth
I was, I am and I will be !

From dreams awake, from bonds be free !
Be not afraid, This mystery,
My shadow, can not frighten me !
Know once for all that I am He !

—Swami Vivekanand

DHARMA AND YOGA

(Shri A. Balasubramaniam, Tirupati–Andhra)

The problem before the aspirant is how best he can get back to his original subtle place in the Absolute Reality, from which he has gradually slid down to the present gross state, and thereby extricate himself from the never-ending cycle of births and deaths.

Sa es have appeared on earth from time to time, and have expounded different ways and means for reaching the Absolute. Thus different forms of Yoga came into being. The pu pose of Yoga is to make man subtler and subtler until he reaches the subtlest point from where he slid down centuries ago and got caught up in the whirlpool of sansar. Yoga alone cannot achievet he goal unless it is in combination with Dha ma. Yoga is the means and Dharma is the duty. It is therefore necessary that one should adopt the means and also do the duty. These two form the two wheels of a cart set on the road to the Ultimate. Any one wheel getting damaged means a breakdown in the journey.

The theory of incarnation itself establishes the importanc of Dharma. Lord Krishna has said in the Bhagawadgita "Dharma Sansthapanarthaya Sambhavami Yuge Yuge" Sri Rama Chandra is described in Ramayan moolamantra as "Dharmatma Satya sandhascha Ramo", etc From this it can be seen that the subtle Absolute or Reality, from which these Avataras have come down on earth for the salvation of mankind, can be reached only by strict Dharma and subtle Yoga. The failure or even a drawback, in

either Yogic attainment or in the observance of Dharma would deposit the aspirant back on the cycle of births and deaths. Therefore, it is necessary that the aspirant with his human frailities, must have a Guide who would take him to the Ultimate height unerringly by his own Yogic power.

Today a new spiritual light head has come up to guide the seekers after Reality. This spiritual personality, an embodiment of wisdom, in his child-like and artless bearing, though of a frail frame never fails to attract the aspirant as the magent does the iron.

I learnt from the Master himself that the Grandmaster, Samarthguru Shree Ram Chandra Jee Maharaj, a born but untutored musician, used to sing in spiritual exuberance. By the celestial melody every one among the listening aspirants and the casual visitors felt lifted up to a higher plane of consciousness. If such can be the inflnence upon even the casual visitors, the inflnence of the Grandmaster's power as regards the purposeful moulding of the wonderful personality of our Master, destined to found and spread the great mission of the regeneration of humanity itself, may well be imagined.

The best way to know the Master is to know what he has said. "The Reality at Dawn" reveals him on broad lines. Sifting all that has been said in the book we can find that the Master takes care of his disciple by his power of transmission, so that it is possible to span the distance to the Ultimate in this very life. This is a unique feature which distinguishes system of sadhana from other systems, prevalent our and practised in our country and elsewhere.

'सहज मार्ग' पत्रिका के नियम

१—सहज मार्ग प्रति वर्ष चार बार चत्र, आषाढ़, आश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है।

२—'सहज-मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित मूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

३—'सहज-मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यतः आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक होना चाहिए।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा अंगरेजी लिपि में काग़ज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए।

६—'सहज-मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहियेः—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव

गुप्ता भवन, महराजनगर,
लखीमपुर—खीरी उ० प्र०

७—'सहज-मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के प्रधान की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापनों की दर निम्नलिखित है—
कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०) तीस रुपये आधा १५) पन्द्रह रुपये
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०) बीस रुपये आधा १०) दस रुपये
चौथाई ६) छ रुपये

८—'सहज-मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) रु० है और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

1–Efficacy of Rajyoga	*by Shri Ramchandra ji Shahjhanpur (U. P.)*	*Price Rs.* 2-50N.P.
2–Reality at Dawn	*Do*	1-50N.P.
3- Do	*(In Tamil translation)*	*in the press*
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	ले० श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपूर (उ० प्र०)	मूल्य १-५० नये पैसे
५-अनन्त की ओर	" "	प्रेस में
६-गुरु संदेश	" "	२५ नये पैसे
७-सहज समाधि	ले० कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर–खीरी (उ० प्र०)	२५ नये पैसे

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

श्री कन्हैयालाल महेन्द्र द्वारा जनसेवक प्रेस, लखीमपुर में मुद्रित